ए० आर० अन्तुले

बनाम

रामदास श्रीनिवास नायक और एक अन्य

(A. R. Antulay

v.

Ramdas Sriniwas Nayak and Another)

(16 फरवरी, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई, आर० एस० पाठक,
ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और वी० बालकृष्ण एराडी)

दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 (1952 का 46) — धारा 8, 7, 6 [सपठित भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2), धारा 5, 5-क, 7-क]—लोक सेवक—प्राइवेट परिवाद—लोक सेवक द्वारा किए गए अपराधों के विरुद्ध प्राइवेट परिवाद फाइल किया जाना और विशेष न्यायाधीश द्वारा उसका संज्ञान किया जाना—अभियुक्त द्वारा यह अभिवचन किया जाना कि लोक सेवक के विरुद्ध प्राइवेट परिवाद के आधार पर दाण्डिक कार्यवाही नहीं की जा सकती—वस्तुतः विशेष न्यायाधीश का लोक सेवक के विरुद्ध प्राइवेट परिवाद के आधार पर फाइल किए गए मामले का 1952 वाले अधिनियम की धारा 6 (1) (क) और (ख) के उपबन्धों के अनुसार संज्ञान करना और उसे ग्रहण करना वैध है—कोई भी व्यक्ति दण्ड विधि को उस दशा में गति में ला सकता है, यदि सम्बन्धित अपराध के विषय में अधिनियमित करते हुए कानून में उसके प्रतिकूल कोई उपबन्ध न किया गया हो।

दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 (1952 का 46)— धारा 8, 7, 6 [सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2), धारा 4, 6]—विशेष न्यायाधीश का न्यायालय—अभियुक्त की ओर से यह आक्षेप किया जाना कि विशेष न्यायाधीश को आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता प्राप्त नहीं होती—वस्तुतः विशेष न्यायालय को उन

शक्तियों को छोड़कर जिन्हें विनिर्दिष्ट रूप से अपवर्जित कर दिया गया है, सभी शक्तियां प्राप्त होती हैं, उसे आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता प्राप्त होती है।

कानूनों का निर्वचन—दण्ड विधियां—अर्थान्वयन का नियम—किसी कानून का निर्वचन करते समय न्यायालय को चाहिए कि वह उसका उसी प्रकार से अर्थ लगाये, जैसे कि वह है, वह अपनी सुविधानुसार उसका पुनः प्रारूपण नहीं कर सकता।

अपीलार्थी-परिवादी ने प्रत्यर्थी-अभियुक्त के विरुद्ध जो कि 1980 से लेकर 19 जनवरी, 1982 तक महाराष्ट्र राज्य का मुख्यमंत्री था, मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में यह अभिकथन करते हुए परिवाद फाइल किया कि अभियुक्त ने, मुख्यमंत्री की हैसियत से, अर्थात् भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 21 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक की हैसियत से, भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 161, 165 और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5, तथा दण्ड संहिता की धारा 109 और 120-ख के साथ पठित उसी संहिता की धारा 420 के अधीन अपराध किये हैं। मजिस्ट्रेट ने सुनवाई के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 6 के अधीन, महाराष्ट्र राज्य के राज्यपाल की मंजूरी के अभाव में, दण्ड संहिता की धारा 161, 165 और 1947 वाले अधिनियम की धारा 5 के अधीन अभिकथित अपराधों से सम्बन्धित परिवाद ग्रहण किये जाने के लायक नहीं है। अभियुक्त-प्रत्यर्थी ने मुख्यमंत्री के रूप में अपना त्यागपत्र दे दिया तथा वह उस पद पर 19 जनवरी, 1982 तक बना रहा। उस तारीख के बाद भी वह विधान सभा का सदस्य बना रहा। मजिस्ट्रेट के उक्त निर्णय के विरुद्ध अपीलार्थी-परिवादी ने 12 अप्रैल, 1982 को उच्च न्यायालय में विशेष दाण्डिक अपील फाइल की जो खारिज कर दी गई। दूसरी ओर, महाराष्ट्र राज्य ने संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर उच्च न्यायालय के उसी निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की जो 28 जुलाई, 1982 को खारिज कर दी गई। तदुपरान्त, महाराष्ट्र के राज्यपाल ने उसी दिन भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 6 के अधीन यह मंजूरी दे दी कि मंजूरी देने वाले आदेश में उपवर्णित विनिर्दिष्ट आरोपों की बाबत अभियुक्त के विरुद्ध अभियोजन की कार्यवाही की जाए। तब अपीलार्थी-परिवादी ने 9 अगस्त, 1982 को मुम्बई के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में अभियुक्त-प्रत्यर्थी के विरुद्ध नए सिरे से परिवाद फाइल किया। उसी दिन विशेष न्यायाधीश ने

अपराध का संज्ञान कर लिया और आदेशिका जारी कर दी। बाद में चलकर वह मामला एक अन्य विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में स्थानान्तरित कर दिया गया, जिसने तारीख 25 जुलाई, 1983 को अपने आदेश द्वारा अभियुक्त-प्रत्यर्थी की यह दलील स्वीकार कर ली कि यद्यपि अभियुक्त मुख्यमंत्री नहीं रह गया है, तथापि उस तारीख को जिसको अपराधों का संज्ञान किया गया था, वह महाराष्ट्र विधान सभा का आसीन सदस्य है और इस प्रकार वह भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 21 (क) के अर्थान्तर्गत लोक सेवक है और इसी कारण जब तक कि विधान सभा सदस्य के रूप में उसे उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी उसे अभियोजित करने की मंजूरी नहीं दे देता, तब तक अभियुक्त उन्मोचित किये जाने का हकदार है। इस मामले में सक्षम प्राधिकारी महाराष्ट्र विधान सभा है। स्पष्ट करने की दृष्टि से यह बताना उचित होगा कि प्रत्यर्थी-परिवादी के परिवाद पर विद्वान् विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराधों का संज्ञान किये जाने के बाद, वह मामला परिवादी का साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए 18 अक्तूबर, 1982 को आस्थगित कर दिया गया था। उस दिन विचारण न्यायालय में अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होते हुए विद्वान काउन्सेल ने दो विनिर्दिष्ट आधारों पर न्यायालय की अधिकारिता को प्रश्नगत करते हुए आवेदन फाइल किया था : (1) यह कि दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 6 के अधीन स्थापित विशेष न्यायाधीश का न्यायालय अपराध गठित करने वाले तथ्यों की बाबत प्राइवेट परिवाद के आधार पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में पगणित अपराधों में से किसी का भी संज्ञान नहीं कर सकता, और (2) यह कि जहां किसी क्षेत्र में एक से अधिक विशेष न्यायाधीश हैं, वहां इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा किसी ऐसे विनिर्देश के अभाव में जिसमें कि स्थानीय क्षेत्र का विनिर्देश किया गया हो, जिसके ऊपर प्रत्येक विशेष न्यायाधीश की अधिकारिता होगी, विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करने की और उस मामले का विचारण करने की कोई भी अधिकारिता नहीं है। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने दोनों दलीलें अस्वीकृत कर दीं। अपीलार्थी ने मुम्बई उच्च न्यायालय में दाण्डिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया। विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा किए गए निर्देश के आधार पर मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने इस पुनरीक्षण आवेदन की सुनवाई की। विद्वान् न्यायाधीशों ने दो अलग-अलग किन्तु सम्मत निर्णय देकर यह अभिनिर्धारित किया कि विशेष न्यायाधीश अपराध गठित करने वाले तथ्यों की बाबत प्राइवेट परिवाद के आधार पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान करने के लिए सक्षम है तथा उसका हकदार है और इसी कारण उसने प्रथम दलील अस्वीकृत कर दी।

यह निष्कर्ष निकालते समय विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम 1947 की धारा 5क के अधीन पूर्विक अन्वेषण दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराधों का संज्ञान करने की भी पूर्ववर्ती शर्त नहीं है। विद्वान् न्यायाधीशों ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि उस समय जबकि उन्होंने उस मामले की सुनवाई की थी, महाराष्ट्र सरकार ने 1952 वाले अधिनियम की धारा 7 (2) के अधीन 15 जनवरी, 1983 वाली अधिसूचना निकाल दी थी जिसमें उसने मामले का विचारण करने के लिए वृहत्तर मुम्बई के लिए विशेष न्यायाधीश का नाम विनिर्दिष्ट किया था। इस अधिसूचना की ओर ध्यान देने के बाद तथा प्रत्यर्थी के विद्वान काउन्सेल के कथन की ओर ध्यान देने के बाद अपीलार्थी के विद्वान् कउन्सेल की दूसरी दलील भी अस्वीकृत कर दी गई। तदनुसार विद्वान न्यायाधीशों ने पुनरीक्षण पिटीशन खारिज कर दिया। इसलिए यह अपील विशेष इजाज़त लेकर उच्चतम न्यायालय में की गई है। अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—भिन्न-भिन्न सही दृष्टिकोणों से इस मामले की परीक्षा करने पर उच्चतम न्यायालय का समाधान हो गया कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश और मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ दोनों ने ही जो यह निष्कर्ष निकाला है कि परिवादी द्वारा फाइल किया गया प्राइवेट परिवाद स्पष्टतः चलने योग्य है और यह कि संज्ञान उचित रूप से किया गया था, वह ठीक है। तदनुसार इस अपील को असफल होने के कारण खारिज कर दिया गया। (पैरा 35)

दण्ड न्यायशास्त्र का यह सुमान्य सिद्धांत है कि कोई भी व्यक्ति वहां के सिवाय दण्ड विधि को गतिमान कर सकता है या उसमें गति ला सकता है, जहां कि किसी अपराध को अधिनियमित करने वाले कानून में या सृष्ट करने वाले कानून में उसके प्रतिकूल कोई बात उपदर्शिल की गई है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की स्कीम में न्यायालय में दाण्डिक अपराधों को ले जाने के लिए दो समान्तर और स्वतन्त्र अभिकरणों की परिकल्पना की गई है। हत्या के सर्वाधिक गम्भीर अपराध के लिए भी, कोई भी विवाद नहीं उठाया गया कि प्राइवेट परिवाद न केवल फाइल किया जा सकता है, बल्कि उसे ग्रहण भी किया जा सकता है और विधि के अनुसार कार्यवाही की जा सकती है। परिवादी को सुने जाने का अधिकार केवल इस बात के सिवाय न्यायशास्त्र की संकल्पना की परिधि के बाहर है, जहां दण्ड अपराध की सृष्टि करने वाले कानून में परिवादी की पात्रता

के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, वहां आवश्यक विवक्षा द्वारा साधारण सिद्धांत ऐसे कानूनी उपबन्ध द्वारा अपवर्जित हो जाता है। किसी ऐसे कानूनी उपबन्ध के अभाव में, परिवादी के सुने जाने का अधिकार ऐसी संकल्पना है जो कि दण्ड न्यायशास्त्र की परिधि के बाहर है। अन्य शब्दों में, यह सिद्धांत कि कोई भी व्यक्ति दण्ड विधि को गति में ला सकता है या उसे गतिमान बना सकता है, उसी प्रकार से तब तक बना रहता है जब तक कि किसी कानूनी उपबन्ध द्वारा इसके प्रतिकूल उपदर्शित न हो। लगभग विश्वव्यापी रूप से लागू होने वाला यह साधारण सिद्धांत इस नीति पर आधारित है कि ऐसा कोई अपराध अर्थात् ऐसा कार्य या ऐसा लोप जो कि तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा दण्डनीय बनाया गया हो, [दण्ड संहिता की धारा 2 (ढ) देखिए] न केवल ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में किया गया अपराध है जिसको हानि पहुंचती है बल्कि समाज के विरुद्ध भी किया गया अपराध है। समाज अपने व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण विकास के लिए अपराधी को दण्डित करने में हितबद्ध है, अतः गम्भीर अपराधों के लिए जो अभियोजन किया जाता है वह लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य के नाम से किया जाता है जो कि किसी प्राइवेट बदला या प्रतिकार के तत्व को अपवर्जित करता है। चूँकि समाज के हित में अपराधी का दण्ड समाज के व्यापक कल्याण के लिए अधिनियमित दाण्डिक कानूनों के पीछे उद्देश्यों में से एक है, इसीलिए कार्यवाहियां प्रारम्भ करने के अधिकार को दण्ड न्यायशास्त्र के लिए अज्ञात सुने जाने के अधिकार के निश्चित फार्मूले में फिट करके किसी विनिर्दिष्ट कानूनी अपवाद द्वारा करने के सिवाय सीमित, परिमित या निर्बन्धित नहीं किया जा सकता। यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि ऐसा अपवाद मौजूद है और यह कि लोक सेवक द्वारा किए गए भ्रष्टाचार के अपराधों के लिए प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है, न्यायालय को असंदिग्ध कानूनी उपबन्ध की आवश्यकता होगी और दूरगामी विवक्षा प्रस्तुत करने के लिए उलझी दलील को अभिव्यक्त कानूनी उपबन्ध के स्थान पर प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाही प्रारम्भ करने के विषय में, विधानमण्डल के पास संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करते हुए, असंदिग्ध रूप से अपने मस्तिष्क को व्यक्त करने के तीन अवसर थे अर्थात् यह कि क्या संज्ञान प्राइवेट परिवाद के आधार पर किया जा सकता है या नहीं। पहला अवसर धारा 8 (1) में ही मात्र यह कथन करके उपबन्ध करने का अवसर था कि विशेष न्यायाधीश, जैसा कि धारा 5-क में अनुध्यात है, अन्वेषण करने वाले अन्वेषक अधिकारी द्वारा ऐसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत पुलिस रिपोर्ट के

आधार पर अपराध का संज्ञान कर सकता है। वरिष्ठ पंक्ति के अभिहित पुलिस अधिकारियों द्वारा अन्वेषण के लिए उपबन्ध करते समय, विधान मण्डल ने पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने से अन्यथा किसी रीति से संज्ञान करने के लिए विशेष न्यायाधीश की शक्ति को निर्बन्धित नहीं किया था। दूसरा अवसर तब आया था जबकि प्राइवेट परिवादी को धारा 8 (3) द्वारा समझे गए लोक अभियोजक की हैसियत उस दशा में प्रदत्त की गई, यदि वह अभियोजन की कार्यवाही का संचालन करना चाहता। चूंकि विधानमण्डल को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 225 में अन्तर्विष्ट उपबन्ध जैसे उपबंध के बारे में पता था, इसलिए वह इस बात के लिए भी उपबन्ध कर सकता था कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष किए जाने वाले प्रत्येक विचारण में लोक अभियोजक अभियोजन की कार्यवाही का संचालन करेगा, यद्यपि वह बात स्वयं ही इस विषय में विनिश्चायक नहीं होगी और तीसरा अवसर उस समय था, जबकि विधानमण्डल ने, विशेष न्यायालय द्वारा अनुसरण किए जाने वाले वारन्ट के मामलों के लिए विहित प्रक्रिया विहित करते हुए विनिर्दिष्ट उपबन्ध द्वारा यह अपवर्जित नहीं किया कि जिस एकमात्र प्रक्रिया का अनुसरण विशेष न्यायाधीश कर सकता है, वह ऐसी प्रक्रिया है जो कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर वारन्ट वाले मामलों के विचारण के लिए विहित की गई हो। (पैरा 6)

स्पष्टता और निश्चितार्थता के साथ यह बताना आवश्यक है कि दंड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) जो कि विशेष न्यायाधीश को धारा 6 (1) (क) और (ख) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है, प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षतः, अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा यह उपदर्शित नहीं करती कि संज्ञान करने का एक मात्र ढंग 5 क में यथा उपवर्णित अभिहित पंक्ति के या अनुज्ञेय पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 (2) के अधीन प्रस्तुत पुलिस रिपोर्ट है। (पैरा 14)

कानून में यह उपदर्शित करते हुए विनिर्दिष्ट उपबन्ध के अभाव में कि अपराधों का अन्वेषण, जांच या विचारण या उनके सम्बन्ध में अन्यथा कार्यवाही उस कानून के अनुसार की जायेगी, उसका अन्वेषण, जांच, विचारण या अन्यथा कार्यवाही दण्ड संहिता के अनुसार की जायेगी अन्य शब्दों में, दण्ड प्रक्रिया संहिता ऐसा मुख्य कानून है जिसमें विभिन्न पदाभिदानों के दण्ड न्यायालयों द्वारा मामलों के अन्वेषण, जांच और विचारण के लिए उपबन्ध किया गया है। (पैरा 16)

यदि 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) में प्रयुक्त भाषा को इस रोशनी और पृष्ठभूमि में पढ़ा जाता है कि विशेष न्यायाधीश विचारण के लिए अभियुक्त को सुपुर्द किए बिना अपराध का संज्ञान कर सकता है, तो इससे निश्चित रूप से यह विवक्षित है कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने की शक्ति से लैस किया गया है किन्तु यह कि उसे मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी करने पर संज्ञान करने की शक्ति से वंचित किया गया है। यह धारा 193 के अधीन संज्ञान करने के ढंग को अपवर्जित करती है। तो फिर केवल धारा 190 ही बच रहती है जिसमें न्यायालयों द्वारा अपराधों का संज्ञान करने के विभिन्न ढंगों के लिए उपबन्ध किया गया है। यह कहना व्यर्थ है कि धारा 190 केवल मजिस्ट्रेट तक ही सीमित है और विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट नहीं है। हम कुछ और आगे चल कर विशेष न्यायाधीश की स्थिति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करेंगे। तथापि, तथ्य यह बच रह जाता है कि जैसा कि "विशेष न्यायाधीश के न्यायालय" अभिव्यक्ति का प्रयोग धारा 8 की उपधारा (3) में किया गया है, वह दण्ड न्यायालय है और धारा 9 को देखते हुए वह उच्च न्यायालय की अपीली और प्रशासनिक नियन्त्रण के अधीन है। उसे उसका विचारण करने की दृष्टि से अपराधों का संज्ञान अवश्य ही करना चाहिए किन्तु वह न्यायालय को अभियुक्त की सुपुर्दगी पर उसका संज्ञान नहीं करेगा। आवश्यक परिणामस्वरूप यह अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए कि विशेष न्यायाधीश परिवाद के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या किसी अपराध के किसी रीति से किए जाने के सम्बन्ध में स्वयं ही जानने पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान कर सकता है। संज्ञान करने के ढंगों में से अन्तिम ढंग के सम्बन्ध में इस बात पर जोर दिया गया कि यह दर्शित करने के लिए कोई भी अन्तर्निहित साक्ष्य मौजूद नहीं है कि विशेष न्यायाधीश धारा 190 (1) (ग) का लाभ इसलिए नहीं उठा सकता, क्योंकि धारा 191 उसे इस प्रकार उपलभ्य नहीं है जिससे कि वह उस मामले का अन्तरण कर सके। वस्तुतः संहिता के उपबंध विशेष न्यायाधीश को ऐसी रीति से और ऐसी सीमा तक लागू करने पड़ेंगे जिससे कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय की अलग पहचान कायम रह सके, न कि उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय की भूमिका अवश्य ही निभानी चाहिए। यह अर्थान्वयन का सुस्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय किसी धारा को उसी प्रकार पढ़े जैसी कि वह है और अपनी सुविधा के अनुकूल बनाने के लिए उसका पुनः प्रारूपण नहीं कर सकता, और न ही अर्थान्वयन का कोई सिद्धांत न्यायालय को इस बात की अनुज्ञा देता है कि वह उस धारा को ऐसी रीति से पढ़े जिससे कि वह कुछ सीमा तक व्यर्थ हो जाए। धारा 8 (1) में यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश किसी

अपराध का संज्ञान करेगा और उसका संज्ञान अभियुक्त की सुपुर्दगी किए जाने पर नहीं करेगा । विधानमन्डल ने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों स्थितियों के लिए उपबंध किया था । उसने निश्चित रूप से विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त की और उसने नकारात्मक रूप से सुपुर्दगी की किसी भी संकल्पना को समाप्त कर दिया था । अत: धारा 8 (1) को इस प्रकार पढ़ना सम्भव नहीं है, मानो कि अपीलार्थी की ओर से यह अभिवचन किया गया है कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर ही संज्ञान किया जा सकता है और यदि कोई दूसरा मत अपनाया जाता है, तो उससे धारा 5क के अधीन किया गया रक्षोपाय भ्रामक हो जाएगा । (पैरा 17 और 18)

इस प्रकार जहां तक कि मामले के अन्वेषण का सम्बन्ध है, इस न्यायालय ने निश्चित राय यह व्यक्त की है कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम् 1947 की धारा 5क में अन्तर्विष्ट उपबंध का उल्लंघन करते हुए किसी पुलिस अधिकारी द्वारा जो अन्वेषण किया जाता है, वह अवैध होता है । यह बात कि समाप्त विचारण के परिणाम पर इस अवैधता का क्या परिणाम होता है, विचार के लिए उत्पन्न ही नहीं होती है । किन्तु कतिपय ऐसे मत हैं जिनका अवलम्ब इस बात पर जोर देने के लिए लिया गया था कि चूंकि धारा 5क के अधीन पूर्विक अन्वेषण के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह आज्ञापक है और चूंकि विशेष न्यायाधीश धारा 5 के अनुसार विधिमान्य और वैध अन्वेषण के अन्त में पुलिस रिपोर्ट के आधार पर किसी अपराध का संज्ञान कर सकता है, इसलिए आवश्यक विवक्षा द्वारा, प्राइवेट परिवाद के आधार पर 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराध को संज्ञान करने की बात अपवर्जित है । स्पष्ट रूप से यह कहना पड़ेगा कि इस निर्णय में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती जिसका इस दलील से दूर का भी सम्बन्ध हो । 1947 वाले अधिनियम की धारा 5क अभिहित अधिकारियों से निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के विरुद्ध रक्षोपाय है । इस विचार के कारण सन्देह के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं बच रहेगी कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5क में समाविष्ट रक्षोपाय अभिहित पंक्ति से निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा किए गए अन्वेषण के विरुद्ध है और यह कि मजिस्ट्रेट निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण की अनुज्ञा दे सकता है । इस निर्णय को बहुत ही बारीकी के साथ पढ़ने पर यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई बात दिखाई नहीं पड़ती है कि 1947 वाले अधिनियम की धारा 5क के अधीन अन्वेषण विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारणीय अपराधों का संज्ञान किए जाने की पूर्ववर्ती शर्त

है। इससे यह दर्शित होगा कि विधानमण्डल ने, एक ओर, अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारियों को लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का अन्वेषण स्वयं करने के लिए शक्ति प्रदत्त की थी, वहीं उसने मजिस्ट्रेट के हस्तक्षेप को वास्तविक रक्षोपाय के रूप में उस समय समझा था जबकि अन्वेषण अभिहित अधिकारियों से निचली पंक्ति के अधिकारियों द्वारा किए जाने की अनुज्ञा दी गई। दूसरे शब्दों में, न्यायालय रक्षोपाय है और उसे ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि न्यायिक रूप से प्रशिक्षित मस्तिष्क किसी भी प्रकार से किसी भी पंक्ति के किसी पुलिस अधिकारी की अपेक्षा अधिक अच्छा रक्षोपाय है। निस्सन्देह, जो एकमात्र निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि धारा 5क लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का छोटे या निचले स्तर के पुलिस अधिकारियों द्वारा किए गए अन्वेषण के विरुद्ध रक्षोपाय है। इसका सम्बन्ध विशेष न्यायाधीश के न्यायालय द्वारा अपराधों का संज्ञान करने के ढंग या पद्धति से प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: बिल्कुल नहीं है। आवश्यक परिणाम के रूप में इससे यह अभिप्रेत है कि धारा 5क का उपबंध ऐसे विशेष न्यायाधीश द्वारा जो कि 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (क) के अधीन शक्ति अर्जित करता है, उसकी धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान किए जाने के पूर्व कार्यवाहियों की पूर्ववर्ती शर्त नहीं है और इसके साथ ही एकमात्र परिसीमा यह है कि उसका संज्ञान मजिस्ट्रेट द्वारा उसकी सुपुर्दगी पर नहीं किया जायेगा। (पैरा 21)

यदि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5क विशेष न्यायाधीश द्वारा लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का संज्ञान करने के विषय में संदर्भ से परे है, तो इस एकमात्र परिसीमा सहित आरंभिक अधिकारिता के न्यायालयों द्वारा अपराधों का संज्ञान करने की ज्ञात पद्धतियों में से किसी एक पद्धति में ऐसे अपराधों का संज्ञान करने की एक ही परिसीमा सहित धारा 8 (1) द्वारा विशेष न्यायाधीश की शक्ति अप्रभावित बनी रहती है। इस प्रकार से संज्ञान करने के लिए सक्षम न्यायालय द्वारा अपराधों का संज्ञान करने का एक ऐसा कानूनी मान्य सुपरिचित ढंग ऐसे तथ्यों के बारे में परिवाद प्राप्त करना है जो कि अपराध गठित करता है और धारा 8 (1) में यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश को धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति है और इस उपबंध द्वारा अपवर्जित संज्ञान करने का एक मात्र ढंग सुपुर्दगी करने पर संज्ञान करना है। अत: इससे यह अर्थ निकलता है कि विशेष न्यायाधीश ऐसे अपराध गठित करने वाले तथ्यों के सम्बन्ध में परिवाद प्राप्त होने पर लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का

संज्ञान कर सकता है। यदि यह अभिनिर्धारित कर दिया जाए कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद ग्रहण करने का हकदार है, तो भी उसके द्वारा 1947 वाले अधिनियम की धारा 5क के अधीन अन्वेषण करने का निदेश दिए बिना कोई और आगे कदम इस प्रकार नहीं उठाए जा सकते कि कहीं धारा 5क का रक्षोपाय कम न हो जाए। यह तो भिन्न आवरण में वही एक ही दलील है। ऐसी दलील को स्वीकार करना यह कहने की कोटि में होगा कि परिवाद प्राप्त होने पर विशेष न्यायाधीश को यह चाहिए कि वह धारा 5 के अधीन अन्वेषण के लिए निदेश दें। ऐसे दृष्टिकोण के लिए कोई भी औचित्य नहीं है। इस तथ्य से ही कि शक्ति इन अपराधों का अन्वेषण करने के लिए निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों को अनुज्ञा देने के वास्ते प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को प्रदत्त की गई है, विधानमण्डल के मस्तिष्क का पता चलता है कि न्यायालय, वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों की बनिस्बत अधिक विश्वसनीय रक्षोपाय है। (पैरा 23 और 24)

एक से अधिक कारणों से इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है। यदि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 का लाभ उठाया जा सकता है, तो यह समझ में आने वाली बात नहीं है कि विशेष न्यायाधीश किस प्रकार पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संज्ञान करने का हकदार होगा। यदि धारा 190 लागू नहीं होती है, तो अपराधों का संज्ञान करने के सभी तीनों ढंग उपलभ्य नहीं होंगे। कोई भी व्यक्ति अपनी ही सुविधा के अनुसार और इच्छा से, जैसा चाहे, वैसा नहीं कर सकता। या तो सभी तीनों ढंग उपलब्ध हैं या उनमें से कोई भी नहीं। 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) से जो कि संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है, कोई भी अधिमानता प्रकट नहीं होती। इस संक्षिप्त आधार पर यह दलील अवश्य ही नामंजूर कर दी जानी चाहिए। वास्तव में 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) को पूरी तरह से प्रभावी बनाने की दृष्टि से जो एक बात करनी है, वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 278 से लेकर 250 में जहां कहीं भी मजिस्ट्रेट शब्द आया हुआ है, उसके स्थान पर "विशेष न्यायाधीश" अभिव्यक्ति का पढ़ना है। यह समावेशन द्वारा विधायन कहलाता है। उसी प्रकार से जहां संज्ञान करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, वहां इस तथ्य की खोज करना व्यर्थ है कि क्या धारा 190 के प्रयोजनों के लिए जो कि अपराध का संज्ञान करने की शक्ति मजिस्ट्रेट को प्रदत्त करती है, विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट है ? जो बात की जानी है, वह यह है कि "मजिस्ट्रेट" के स्थान पर "विशेष न्यायाधीश" अभिव्यक्ति का पढ़ना है और इससे सम्पूर्ण बात बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है। उस समय जबकि 1952 वाला अधिनियम

अधिनियमित किया गया था, जो बात प्रवर्तन में थी वह दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 थी। उसमें विशेष न्यायाधीश के किसी न्यायालय के सबंध में परिकल्पना नहीं की गई थी और विधानमंडल कभी-कभी इस नवीन दण्ड न्यायालय के लिए, जोकि स्थापित किया जा रहा था, सर्वांगीण प्रक्रिया संहिता कभी भी अधिनियमित नहीं करना चाहता था। अत: उसने (अपराधों का संज्ञान करते हुए) शक्ति प्रदत्त की (मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामलों के विचारण की) प्रक्रिया विहित की, क्षमा देने का प्राधिकार उपदर्शित किया (धारा 338) और उसके बाद उसकी हैसियत की घोषणा इस प्रकार करते हुए कि उसकी तुलना सेशन न्यायालय से की जा सकती है, उसने यह विहित किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के सभी उपबंध वहां तक जहां तक कि वे 1952 वाले अधिनियम के उपबंधों से असंगत नहीं हैं, लागू होंगे। इस स्थिति का अन्तिम परिणाम यह है कि आरम्भिक अधिकारिता का नवीन न्यायालय स्थापित किया गया है और जब कभी भी इस सम्बन्ध में प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ऐसे विनिर्दिष्ट प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी शक्तियां क्या हैं जोकि उसके समक्ष आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में पेश किए गए हों, उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रति किसी भी दिखावटी पदाभिदान से बाधित हुए बिना निर्देश करना होगा। संज्ञान करते हुए विशेष न्यायाधीश के न्यायाल को धारा 190 के अधीन वाली शक्तियां प्राप्त होती हैं। जबकि वह मामले का विचारण कर रहा हो, तो उसके लिए मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामलों के विचारण, की प्रक्रिया का अनुसरण करना बाध्यकारी है, यद्यपि हैसियत के तौर पर उसकी समानता सेशन न्यायालय से की गई थी। (पैरा 26 और 27)

दण्ड प्रक्रिया संहिता की युक्ति से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि गम्भीर अपराध सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय होते हैं और यह कि यदि सेशन न्यायालय को सुपुर्दगी प्राइवेट परिवाद के आधार पर अपराध का संज्ञान करने वाले मजिस्ट्रेट द्वारा की गई जांच के आधार पर की जाती है, तो सेशन न्यायालय को वह मामला सुपुर्द किए जाने पर प्राइवेट परिवादी की भूमिका महत्वहीन हो जाती है। राज्य, अभियोजन को अपने हाथ में ले लेता है और लोक-अभियोजन निश्चित रूप से अभियोजन का भार साधक हो जाता है। किन्तु 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (3) के बाद वाले भाग में अधिनियमित धारणात्मक कल्पना लोक अभियोजक की ऐसी हैसियत से लैस करती है जिसका लाभ उठाने के लिए वह अर्हित नहीं होता। इस बात के अतिरिक्त यह बात कही गई कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 साधारण रूप से उसमें विहित परिसीमाओं के अध्यधीन रहते हुए अभियोजन की कार्यवाही वापस

लेने के लिए लोक अभियोजक को शक्ति प्रदत्त करती है। दलील यह है कि यदि प्राइवेट परिवादी जो कि अपने मामले का संचालन करना चाहता है और उसके द्वारा समझे गए लोक अभियोजक की हैसियत प्राप्त कर लेता है, तो वह कतिपय तुच्छ अभियोजन की कार्यवाही आरम्भ करके न्याय को लांछित करने में समर्थ होगा और उसके बाद यदि उसकी हथेली गर्म कर दी जाती है, तो वह मामले को वापस ले लेगा। यह बात कही गई की अभियुक्त झूठा परिवादी सामने पेश कर सकता है और विचारण करने का बहाना कर सकता है तथा उच्च स्तर वाले अन्वेषण के आधार पर गम्भीर अभियोजन से बच सकता है। यह व्यर्थ की कल्पनाएं हैं जोकि कानून में किसी उपबन्ध के अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए असंगत हैं। इसके अतिरिक्त यह दलील इस महत्वपूर्ण भूमिका को भी नजरअन्दाज़ करती है कि न्यायालय को लोक अभियोजक के कहने पर कोई अभियोजन वापस लेने से पूर्व न्यायालय को निभानी होती है। इस बात से कि लोक अभियोजक अपने पद का दुरुपयोग कर सकता है, इसका अवधारण नहीं होता कि किसे लोक अभियोजक होना चाहिए। धारा 8 (3) में अधिनियमित धारणात्मक कल्पना उसकी अपेक्षाओं की सीमाओं तक ही सीमित है क्योंकि विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन की कार्यवाही का संचालन करने वाला व्यक्ति लोक अभियोजक समझा जाता है। वास्तव में धारा 8 (3) द्वारा सृष्ट इस कल्पना से अपीलार्थी की यह दलील बिल्कुल अस्वीकृत हो जाएगी कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है, क्योंकि विधानमण्डल धारा 225 के सदृश उपबन्ध अन्तःस्थापित कर सकता था कि बिशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन का संचालन लोक अभियोजक द्वारा किया जाएगा। इसके विपरीत इस स्थिति से अवगत होते हुए कि प्राइवेट परिवाद ऐसे विशेष न्यायाधीश के समक्ष फाइल किया जा सकेगा जोकि ऐसे परिवाद के आधार पर अपराधों का संज्ञान कर सकता है। विधानमण्डल विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन के भारसाधक व्यक्ति को दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रयोजनों के लिए लोक अभियोजक की हैसियत प्रदान करना चाहता था। यह ऐसा अतिरिक्त कारण है जिससे कि अपीलार्थी की यह दलील कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है, ग्रहण नहीं किया जा सकता। (पैरा 30)

आदेशिका निकालने के लिए यह पूर्ववर्ती शर्त नहीं है कि न्यायालय को निश्चित रूप से दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 द्वारा यथा परिकल्पित जांच अवश्य ही करनी चाहिए या जैसा कि उसमें अनुध्यात है, अन्वेषण के लिए अवश्य ही निदेश देना चाहिए। जांच किए बिना या अन्वेषण किए बिना, संज्ञान करने की शक्ति धारा 202 में विवक्षित है, जबकि उसमें यह कहा गया है कि

यदि मजिस्ट्रेट ठीक समझता है, तो अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका जारी किया जाना मुल्तवी कर सकता है और यह विनिश्चित करने के प्रयोजन से कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं, अथवा नहीं, या तो स्वयं ही मामले की जांच कर सकता है या किसी पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण किए जाने का निदेश दे सकता है। अतः मामला न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार पर छोड़ दिया जाता है कि क्या परिवादी और उसके साक्षियों की परीक्षा करने के बाद, यदि कोई हो तो, जैसा कि धारा 202 द्वारा अनुध्यात है, आदेशिका निकाली जाए या आदेशिका जारी करने की बात मुल्तवी की जाए। यह विवेकाधिकार जोकि न्यायालय को प्राप्त है, या तो जांच करने की बात को या अन्वेषण करने का निदेश देने की बात को न्यायालय के लिए आज्ञापक बनाकर न तो सीमित किया जा सकता है और न ही उससे वंचित किया जा सकता है। ऐसा दृष्टिकोण कानूनी उपबन्ध के प्रतिकूल होगा। अतः इस दलील में कोई भी सार नहीं है कि प्राइवेट परिवाद ग्रहण करके शीघ्रता से विचारण करने के प्रयोजन में बाधा उत्पन्न होगी या यह कि पूर्व-आदेशिका सम्बन्धी रक्षोपाय से वंचित होना पड़ेगा। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 252 से 258 में उपवर्णित प्रक्रिया अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा जांच करने की अपेक्षा अधिक पर्याप्त रक्षोपाय के लिए उपबन्ध करती है। और इसी कारण नए या अतिरिक्त रक्षोपाय की खोज करने की बात असंगत है। (पैरा 31 और 32)

1955 के पूर्व पुलिस रिपोर्ट के आधार पर और पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए जो प्रक्रिया थी, वह एक ही थी और 1952 वाले अधिनियम ने 1947 वाले अधिनियम के अधीन वाले मामलों का विचारण करने के लिए विशेष न्यायाधीश का न्यायालय स्थापित किया गया था और विचारण, वारंट मामलों के विचारण के लिए विहित प्रक्रिया के अनुसार किया जाना था। निश्चित रूप से यह अर्थ निकलता है कि 1952 से लेकर 1955 के बीच विशेष न्यायाधीश का न्यायालय पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार परसंस्थित मामलों के विचारण के लिए उसी प्रक्रिया का अनुसरण करता। यदि 1955 में विधान-मण्डल ने दो प्रक्रियाएं विहित कीं और पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट-मामले के विचारण के लिए केवल एक प्रक्रिया को यथावत् बनाए रखा तथा धारा 7 के पुरःस्थापित किए जाने के बाद स्थिति अपरिवर्तित बनी रही, तो उससे किसी ऐसे गम्भीर परिणाम होने की बात ध्वनित नहीं होती कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है। (पैरा 33)

विशेष न्यायाधीश का न्यायालय आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता का न्यायालय है। आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में उसे कृत्योन्मुख होने की दृष्टि से कानून द्वारा न्यायालय की स्थापना करते हुए कुछ शक्तियां प्रदत्त की गई थीं। उन शक्तियों को छोड़कर जोकि या तो विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त की गई थीं और विनिर्दिष्ट रूप से उनसे वंचित कर दिया गया था, उसे आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में कार्य करना पड़ता है और उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय के पदाभिदान के साथ कठोरता के साथ बंधे नहीं रहना होता। संहिता के अधीन उन शक्तियों के सिवाय जिनसे कि वह विनिर्दिष्ट रूप से वंचित किया गया हो, उसे ऐसी सभी शक्तियां प्राप्त होंगी जोकि आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालयों को प्राप्त होती हैं। यदि किसी स्वतंत्र कानून द्वारा विशेष न्यायाधीश का न्यायालय सृष्ट कर दिया गया हो, तो वह उच्च न्यायालय के अधीन आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में लाया गया है, क्योंकि धारा 9 उच्च न्यायालय को ऐसी सभी शक्तियां प्रदत्त करती है जोकि दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 के अध्याय 31 और 33 द्वारा उच्च न्यायालय को प्रदत्त की गई हों मानो कि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय ऐसा सेशन न्यायालय हो जोकि उच्च न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर जूरी के बिना मामलों का विचारण कर रहा हो। अतः इस तथ्य का खण्डन नहीं किया जा सकता कि ऐसा नवीन दंड न्यायालय जिसके अधिकारी का जोकि उसका अध्यक्ष होने का पात्र हो और जिसे ऐसी विनिर्दिष्ट शक्तियां प्राप्त हों तथा जो ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करता हो, नाम पदाभिदान और अर्हता दी गई हो 1952 वाले अधिनियम के अधीन स्थापित किया गया है। न्यायालय को आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में मानना पड़ता है और उसे ऐसी सभी शक्तियां प्राप्त होंगी जोकि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता वाले किसी न्यायालय को प्राप्त होतीहैं, किन्तु उन शक्तियों को छोड़कर जोकि विनिर्दिष्ट रूप से अपवर्जित की गई हैं। (पैरा 27 और 28)

यह अर्थान्वयन का सुस्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय इस धारा को उसी प्रकार पढ़े, जैसी कि वह है और अपनी सुविधा के अनुकूल बनाने के लिए उसका पुनः प्रारूपण नहीं कर सकता। और न ही न्यायालय को अर्थान्वन का कोई सिद्धांत इस बात की अनुज्ञा देता है कि वह उस धारा को ऐसी रीति से पढ़े जिससे कि वह कुछ सीमा तक व्यर्थ हो जाए। दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) में यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश किसी अपराध का संज्ञान करेगा और उसका संज्ञान अभियुक्त की सुपुर्दगी किए जाने

पर नहीं करेगा। विधानमण्डल ने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों स्थितियों के लिए उपबन्ध किया था। उसने निश्चित रूप से विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त की और उसने नकारात्मक रूप से सुपुर्दगी की किसी भी संकल्पना को समाप्त कर दिया था। अतः धारा 8 (1) को इस प्रकार पढ़ना संभव नहीं है मानो कि अपीलार्थी की ओर से यह अभिवचन किया गया हो कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर ही संज्ञान किया जा सकता है और यदि कोई दूसरा मत अपनाया जाता है, तो उससे भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5क के अधीन किया गया रक्षोपाय भ्रामक हो जाएगा। (पैरा 18)

अनुसरित निर्णय

		पैरा
[1979]	[1979] 1 एस० सी० आर० 839 : **चेट्टियम विट्टिल अहमद और एक अन्य** बनाम **तालुक लैण्ड बोर्ड और एक अन्य** (Chettiam Veettil Ahmad and Another *v.* Taluk Land Board and Others);	22
[1977]	[1977] 2 उम० नि० प० 730=[1976] 3 एस० सी० सी० 736 : **श्रीमती नागव्वा** बनाम **वीरन्ना शिवलिंगप्पा कोनजलगी और अन्य** (Smt. Nagawwa *v.* Veeranna Shivalingappa Konjalgi and Others);	31
[1936]	ए० आई० आर० 1936 प्रिवी कौंसिल 253 (2) : **नज़ीर अहमद** बनाम **किंग एम्परर** (Nazir Ahmad *v.* King Emperor);	22
[1875-76]	(1875-76) 1 चांसरी डिवीजन 426 : **टेलर** बनाम **टेलर** (Taylor *v.* Taylor).	22

प्रभेदित निर्णय

[1970] [1970] 3 एस० सी० आर० 931 :
पी० सिराजुद्दीन और अन्य बनाम मद्रास राज्य और अन्य
(P. Sirajuddin and Others *v.* State of Madras and Others) ; 21

[1968] [1968] 3 एस० सी० आर० 563 :
एस० एन० बोस बनाम बिहार राज्य
(S. N. Bose *v.* State of Bihar) ; 21

[1964] [1964] 3 एस० सी० आर० 71 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम भगवन्त किशोर जोशी
(State of Uttar Pradesh *v.* Bhagwant Kishore Joshi) ; 21

[1959] [1959] सप्लीo 2 एस० सी० आर० 201 :
मध्य प्रदेश राज्य बनाम मुबारक अली
(The State of Madhya Pradesh *v.* Mubarak Ali) ; 21

[1957] ए० आई० आर० 1957 मध्य भारत 43 :
भारत संघ बनाम महेश चन्द्र शर्मा
(Union of India *v.* Mahesh Chandra Sharma) ; 21

[1955 [1955] एस० सी० आर० 1150 :
एच० एन० रिशबुड एण्ड इन्द्र सिंह बनाम दिल्ली राज्य
(H. N. Rishbud and Inder Singh *v.* State of Delhi). 21

निर्दिष्ट निर्णय

[1980] [1980] 2 उम० नि० प० 718=[1979] 3 एस० सी० आर० 928 :
तमिलनाडु राज्य बनाम वी० कृष्णन् स्वामी नायडू और एक अन्य
(State of Tamil Nadu *v.* V. Krishanswami Naidu and Another) ; 34

[1969] ए० आई० आर० 1969 कलकत्ता 321 :
राज किशोर रवि दास बनाम **राज्य**
(Raj Kishore Robidas *v.* The State) ; 30

[1966] ए० आई० आर० 1966 पटना 15 :-
जगदीश प्रसाद वर्मा बनाम राज्य
(Jagdish Prasad Verma *v.* The State) ; 34

[1962] ए० आई० आर० 1962 मुम्बई 105 :
पारसनाथ पांडे और एक अन्य बनाम **राज्य**
(Parasnath Pande and Another *v.* State) ; 34

[1959] ए० आई० आर० 1959 आन्ध्र प्रदेश 659 :
मेडिचेट्टी रामकिश्तिया और अन्य बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**
(Medichetty Ramakistiah and Others *v.* The State of Andhra Pradesh) ; 30

[1959] ए० आई० आर० 1959आन्ध्र प्रदेश 477 :
भूपल्ली मल्लिया और अन्य वाला मामला
(In re : Bhupalli Malliah and Others) ; 30

[1952] ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 481 :
अमलेश चन्द्र और अन्य बनाम **राज्य**
(Amlesh Chandra and Others *v.* The State) ; 30

[1941] ए० आई० आर० 1941 रंगून 209 :
श्वेप्रू बनाम **दि किंग**
(Shwe Pru *v.* The King). 30

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1983 की दाण्डिक अपील सं० 247

1982 के दाण्डिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 510 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 7 मार्च, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री एल० एम० सिंघवी, दलवीर भण्डारी, ए० एम० सिंघवी, एस० एस० परकार, एच० भारद्वाज, यू० एन० भण्डारी, एच० एम० सिंह, रणबीर सिंह, एस० जी० हसनैन, शामराव सामंत और एच० ए० शेखर

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री राम जेठमलानी, पी० आर० वकील, श्रीमती रानी जेठमलानी, सर्वश्री मुकेश जेठमलानी, ओ० पी० मालवीया, शैलेन्द्र भारद्वाज और हरीश जगतलानी

न्यायलय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया।

न्यायाधिपति देसाई —

यह अपील 1982 के दाण्डिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 510 में मुम्बई उच्च न्यायलय की खण्ड न्यायापीठ के विनिश्चय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई है जिसे अपीलार्थी ने विद्वान विशेष न्यायाधीश के तारीख 20 अक्तूबर, 1982 वाले आदेश उसके द्वारा की गई आवेदन की खारिजी के विरुद्ध फाइल किया था।

2. जिन विभिन्न प्रक्रमों से 1982 का विशेष मामला सं० 24, 18 अक्तूबर, 1982 तक पहुँचा है जिसमें वह तारीख भी शामिल है, वे 1983 की सम्बद्ध दाण्डिक अपील सं० 356 में आज तक हमारे निर्णय में उपवर्णित किएगए और उन्हें यहां पर पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम प्रत्यर्थी (मूल परिवादी) रामदास श्रीनिवास नायक के परिवाद पर विद्वान विशेष न्यायाधीश श्री पी० एस० भुट्टा द्वारा अपराधों का संज्ञान किए जाने के बाद, वह मामला परिवादी का साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए 18 अक्तूबर, 1982 को अस्थगित कर दिया गया। उस दिन विचारण न्यायालय में अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होते हुए विद्वान काउन्सेल ने दो विनिर्दिष्ट आधारों पर न्यायालय की अधिकारिता को प्रश्नगत करते हुए आवेदन फाइल किया : (1) यह कि दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 (जिसे संक्षेप में 1952 वाला अधिनियम कहा गया है) की धारा 6 के अधीन स्थापित विशेष न्यायाधीश का न्यायालय अपराध गठित करने वाले तथ्यों की बाबत प्राइवेट परिवाद के आधार पर धारा 6(1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों में से किसी का भी संज्ञान नहीं कर सकता और (2) यह कि जहां किसी क्षेत्र में एक से अधिक विशेष न्यायाधीश हैं, वहां इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा किसी ऐसी विनिर्देश के अभाव में जिसमें कि स्थानीय क्षेत्र का विनिर्देश किया गया हो, जिसके ऊपर प्रत्येक विशेष न्यायाधीश की अधिकारिता होगी, विशेष न्यायाधीश (श्री भुट्टा) को अपराधों का संज्ञान करने की और उस मामले का विचारण करने की कोई भी अधिकारिता नहीं है। विद्वान विशेष न्यायाधीश ने दोनों दलीलें अस्वीकृत कर दीं। अपीलार्थी ने मुम्बई उच्च न्यायालय में 1982 का दाण्डिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 510 फाइल किया। विद्वान

एकल न्यायाधीश द्वारा किए गए निर्देश के आधार पर मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने इस पुनरीक्षण आवेदन की सुनवाई की। विद्वान न्यायाधीशों ने दो अलग-अलग किन्तु समस्त निर्णय देकर यह अभिनिर्धारित किया कि विशेष न्यायाधीश अपराध गठित करने वाले तथ्यों की बाबत प्राइवेट परिवाद के आधार पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान करने के लिए सक्षम है तथा उसका हकदार है और इसी कारण उसने प्रथम दलील अस्वीकृत कर दी। यह निष्कर्ष निकालते समय विद्वान न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (जिसे संक्षेप में 1947 वाला अधिनियम कहा गया है) की धारा 5 क के अधीन पूर्विक अन्वेषण 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराधों का संज्ञान करने की भी पूर्ववर्ती शर्त नहीं है। विद्वान न्यायाधीशों ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि उस समय जबकि उन्होंने उस मामले की सुनवाई की थी, महाराष्ट्र सरकार ने 1952 वाले अधिनियम की धारा 7 (2) के अधीन 15 जनवरी, 1983 वाली अधिसूचना निकाल दी थी जिसमें उसने 1982 के विशेष मामला सं० 24 का विचारण के लिए वृहत्तर मुम्बई के लिए विशेष न्यायाधीश श्री आर० बी० सुले का नाम विनिर्दिष्ट किया था। इस अधिसूचना की ओर ध्यान देने के बाद तथा प्रत्यर्थी के विद्वान काउन्सेल श्री पी० आर० वकील के कथन की ओर ध्यान देने के बाद अपीलार्थी के विद्वान काउन्सेल की दूसरी दलील भी अस्वीकृत कर दी गई। तदनुसार विद्वान न्यायाधीशों ने पुनरीक्षण पिटीशन खारिज कर दिया। इसलिए यह अपील विशेष इजाजत लेकर की गई है।

3. अपीलार्थी की ओर से जिस मुख्य मुद्दे के सम्बन्ध में बहस की गई थी वह यह थी कि विशेष न्यायाधीश 1952 वाले अधिनियम की धारा 6(1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों में से सभी या किसी के सम्बन्ध में कोई प्राइवेट परिवाद ग्रहण नहीं कर सकता। इसके समर्थन में बहुत जोरदार शब्दों में यह दलील दी गई कि 1952 वाले अधिनियम की धारा 5क में अन्तर्विष्ट उपबन्ध के बारे में लगातार यह अभिनिर्धारित किया जाता रहा है कि वह आज्ञापक स्वरूप का है और यदि उसके अननुपालन के बारे में विचारण की समाप्ति के पूर्व किसी भी प्रक्रम में वरिष्ठ न्यायालय के ध्यान में लाया जाता है, तो वह कार्यवाही दूषित हो जाएगी। इस बात पर जोर दिया गया कि धारा 5क में तुच्छ, काल्पनिक तथा उद्देश्य-मूलक अभियोजनों के विरुद्ध रक्षोपाय का समावेश किया गया है और इसी कारण से उसे न केवल आज्ञापक अभिनिर्धारित

किया जाना चाहिए, बल्कि उसका निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि धारा 5क के अधीन किया जाने वाला अन्वेषण किसी ऐसे अपराध या किन्हीं ऐसे अपराधों का विशेष न्यायाधीश द्वारा संज्ञान करने की पूर्ववर्ती शर्त हो सके जिसे कि लोक सेवक ने किया हो। इस मुख्य मुद्दे के समर्थन में जिसे प्रगणित करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिसके बारे में इस निर्णय के दौरान विवेचन किया जाएगा, अनेक गौण मुद्दे पेश किए गए।

4. प्रत्यर्थी-परिवादी की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि दण्ड न्याय-प्रशासन के मूल सिद्धान्तों में से एक यह है कि कोई भी व्यक्ति दण्ड विधि को गतिमान कर सकता है, जब तक की अपराध अधिनियमित करने वाले कानून में परिवादी की सुनवाई के हक, अन्वेषण की रीति और ढंग और अपराध का अन्वेषण करने के लिए सक्षम व्यक्ति और उसका संज्ञान करने के लिए सक्षम न्यायालय के समक्ष उसके प्रतिकूल कोई विशेष उपबन्ध न हो। यह दलील दी गई कि धारा 8 (1) में जो कि विनिर्दिष्ट रूप से न्यायाधीश को उस मामले की स्वीकृति किए बिना अपराध का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है, ऐसी कोई बात मौजूद नहीं है कि जो कि परिवादी को कोई प्राइवेट परिवाद फाइल करने से प्रवारित करती हो या जो विशेष न्यायाधीश को ऐसे प्राइवेट परिवाद के आधार पर अपराधों का संज्ञान करने की अधिकारिता से वंचित करती हो। यह दलील दी गई कि यदि धारा 5 को आज्ञापक माना जाए और यह माना जाए कि उसमें रक्षोपाय समाविष्ट है, तो भी वह अपराधों का निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा किए गए ऐसे अन्वेषण के विरुद्ध रक्षोपाय है जिसे किसी लोक सेवक ने किया हो और इसके अलावा और कोई बात नहीं है। अंत में इस बात पर जोर दिया गया कि 1952 वाले अधिनियम के उपबन्धों को व्यापक दृष्टि से देखने पर, यह बात सामने नहीं आती है कि उसके उपबन्धों में से कोई और विनिर्दिष्ट रूप से धारा 5क विशेष न्यायाधीश को प्राइवेट परिवाद के आधार पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति से वंचित करता है। यह भी दलील दी गई कि यह अभिनिर्धारित करके कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद को ग्रहण नहीं कर सकता है, न्याय का सहारा लेने के रास्ते में बाधा उत्पन्न करने के इस कठोर विचार को अपनाने के पूर्व न्यायालय को ऐसे निर्विवाद्य स्वरूप के विनिर्दिष्ट और सकारात्मक उपबन्ध पर इस प्रकार जोर देना चाहिए जिससे कि वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की इस युक्ति को दूर कर दे जो दो सामान्तर और स्वतंत्र अभिकरणों को दाण्डिक अपराध न्यायालय में ले जाने की अनुज्ञा देती है। एक आनुषंगिक दलील यह दी गई कि विधानमण्डल ने अपना आशय स्पष्ट रूप से यह अभिव्यक्त किया है

जब कि उसने कोई परिवाद फाइल करने के लिए कतिपय शर्तें अपेक्षिक की और संज्ञान करने के लिए कतिपय सक्षम न्यायालय को विनिर्दिष्ट किया तथा उन विनिर्दिष्ट अपराधों का संज्ञान करने का ढंग और रीति विनिर्दिष्ट करने की अपेक्षा की है। इस दलील को साबित करने के लिए हमारा ध्यान ऐसे अनेक कानूनों की ओर आकृष्ट किया गया जिनका उल्लेख हम अभी आगे चलकर करेंगे।

5. सबसे पहले जो दलील पेश की गई, वह यह थी कि धारा 5क वास्तविक निर्वचन करने पर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि वह लोक सेवकों के पक्ष में आज्ञापक रक्षोपाय अधिनियमित करती है, उसमें अनुध्यात अन्वेषण धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने की पूर्ववर्ती शर्त है और इसके परिणामस्वरूप प्राइवेट परिवाद नहीं होगा तथा 1952 वाले अधिनियम, की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश उसे ग्रहण नहीं कर सकता। इस दलील की परीक्षा सिद्धांत और नजीर के आधार पर की जा सकती है।

6. दण्ड न्यायशास्त्र का यह सुमान्य सिद्धांत है कि कोई भी व्यक्ति वहां के सिवाय दण्ड विधि को गतिमान कर सकता है या उसमें गति ला सकता है, जहां कि किसी अपराध को अधिनियमित करने वाले कानून में या सृष्ट करने वाले कानून में उसके प्रतिकूल कोई बात उपदर्शित की गई है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की स्कीम में न्यायालय में दाण्डिक अपराधों को ले जाने के लिए दो समान्तर और स्वतन्त्र अभिकरणों की पकिल्पना की गई है। हत्या के सर्वाधिक गम्भीर अपराध के लिए भी, कोई भी विवाद नहीं उठाया गया कि प्राइवेट परिवाद न केवल फाइल किया जा सकता है बल्कि उसे ग्रहण भी किया जा सकता है और विधि के अनुसार कार्यवाही भी की जा सकती है। परिवादी को सुने जाने का अधिकार केवल इस बात के सिवाय दंड न्यायशस्त्र की संकल्पना की परिधि के बाहर है जहां कि अपराध की सृष्टि करने वाले कानून में परिवादी की पात्रता के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, वहां आवश्यक विवक्षा द्वारा साधारण सिद्धान्त ऐसे कानूनी उपबन्ध द्वारा अपवर्जित हो जाता है। इस विधिक स्थिति के समर्थन में अनेक कानूनी उपबन्धों के प्रति निर्देश किया जा सकता है जैसे कि (i) सी कस्टम्स ऐक्ट, 1878 की धारा 187क, (ii) स्वर्ण (नियंत्रण) अधिनियम, 1968 की धारा 97, (iii) आयात और निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 की धारा 6, (iv) आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 271 और 275 (v) विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम,

1984(2) eILR(PAT) SC 164

1973 की धारा 61, (vi) कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 621 और (vii) विद्युत (प्रदाय) अधिनियम की धारा 77। यह सूची सर्वांगीण न होकर केवल उदाहरण स्वरूप है। जहां कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 किसी व्यक्ति को परिवाद के साथ किसी मजिस्ट्रेट के पास जाने की अनुज्ञा देती है, वहां ऐसी कोई शर्त विहित नहीं करती जिसे परिवादी को परिवाद फाइल करने का पात्र होने के लिए पूरी करनी अपेक्षित है। किन्तु जहां परिवादी के लिए पात्रता के सिद्धान्त की बात अनुध्यात है, वहां विनिर्दिष्ट उपबंध किए गए हैं जैसे कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 से लेकर 199 में दिए गए हैं। इन विनिर्दिष्ट उपबंधों में स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित किया गया है कि किसी ऐसे कानूनी उपबंध के अभाव में, परिवादी के सुने जाने का अधिकार ऐसी संकल्पना है जो कि दण्ड न्यायशास्त्र की परिधि के बाहर है। अन्य शब्दों में, यह सिद्धान्त कि कोई भी व्यक्ति दण्ड विधि को गति में ला सकता है या उसे गतिमान बना सकता है, उसी प्रकार से तब तक बना रहता है जब तक कि किसी कानूनी उपबंध द्वारा इसके प्रतिकूल उपदर्शित न हो। लगभग विश्वव्यापी रूप से लागू होने वाला यह साधारण सिद्धान्त इस नीति पर आधारित है कि ऐसा कोई अपराध अर्थात् ऐसा कार्य या ऐसा लोप जो कि तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा दण्डनीय बनाया गया हो, [दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (ढ) देखिए] न केवल ऐसे व्यक्ति के संबंध में किया गया अपराध है जिसको हानि पहुँचती है बल्कि समाज के विरुद्ध भी किया गया अपराध है। समाज अपने व्यवस्थित और शांतिपूर्ण विकास के लिए अपराधी को दण्डित करने में हितबद्ध है अतः गम्भीर अपराधों के लिए जो अभियोजन किया जाता है वह लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य के नाम से किया जाता है जो कि किसी प्राइवेट बदला या प्रतिकार के तत्व को अपवर्जित करता है। यदि दाण्डिक कानूनों में अन्तर्निहित सार्वजनिक नीति ऐसी है जो कि विधि द्वारा दण्डनीय बनाए गए किसी कार्य या लोप को ऐसे प्राधिकारी के ध्यान में लाया जाता है, तो वह तब तक अतात्विक और असंगत है जब तक कि कानून में उसके प्रतिकूल उपदर्शित न हो। चूंकि समाज के हित में अपराधी का दण्ड समाज के व्यापक कल्याण के लिए अधिनियमित दाण्डिक कानूनों के पीछे उद्देश्यों में से एक है, इसलिए कार्यवाहियां प्रारम्भ करने के अधिकार को दंड न्यायशास्त्र के लिए अज्ञात सुने जाने के अधिकार के निश्चित फार्मूले में फिट करके किसी विनिर्दिष्ट कानूनी अपवाद द्वारा करने के सिवाय सीमित, परिमित या निर्बन्धित नहीं किया जा सकता। यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि ऐसा अपवाद मौजूद है और यह कि लोक सेवक द्वारा किए गए भ्रष्टाचार के अपराधों के लिए प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है, न्यायालय को असंदिग्ध कानूनी उपबंध की आवश्यकता

1984(2) eILR(PAT) SC 164

होगी और दूरगामी विवक्षा प्रस्तुत करने के लिए उलझी दलील को अभिव्यक्त कानूनी उपबंध के स्थान पर प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाही प्रारम्भ करने के विषय में, विधानमण्डल के पास, संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करते हुए, असंदिग्ध रूप से अपने मस्तिष्क को व्यक्त करने के तीन अवसर थे अर्थात् यह कि क्या संज्ञान प्राइवेट परिवाद के आधार पर किया जा सकता है या नहीं। पहला अवसर धारा 8(1) में ही मात्र यह कथन करके यह उपबंध करने का अवसर था कि विशेष न्यायाधीश जैसा कि धारा 5क में अनुध्यात है, अन्वेषण करने वाले अन्वेषक अधिकारी द्वारा ऐसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत पुलिस रिपोर्ट के आधार पर अपराध का संज्ञान कर सकता है। वरिष्ठ पंक्ति के अभिहित पुलिस अधिकारियों द्वारा अन्वेषण के लिए उपबंध करते समय, विधानमण्डल ने पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने से अन्यथा किसी रीति से संज्ञान करने के लिए विशेष न्यायाधीश की शक्ति को निर्बन्धित नहीं किया था। दूसरा अवसर तब आया था जब कि प्राइवेट परिवादी को धारा 8(3) द्वारा समझे गए लोक अभियोजक की हैसियत उस दशा में प्रदत्त की गई यदि वह अभियोजन की कार्यवाही का संचालन करना चाहता। चूँकि विधानमण्डल को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 225 में अन्तर्विष्ट उपबंध जैसे उपबंध के बारे में पता था, इसलिए वह इस बात के लिए भी उपबंध कर सकता था कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष किए जाने वाले प्रत्येक विचारण में लोक अभियोजक अभियोजन की कार्यवाही का संचालन करेगा, यद्यपि वह बात स्वयं ही इस विषय में विनिश्चायक नहीं होगी और तीसरा अवसर उस समय था जबकि विधानमण्डल ने, विशेष न्यायालय द्वारा अनुसरण किए जाने वाले वारंट के मामलों के लिए विहित प्रक्रिया विहित करते हुए विनिर्दिष्ट उपबंध द्वारा यह अपवर्जित नहीं किया कि जिस एकमात्र प्रक्रिया का अनुसरण विशेष न्यायाधीश कर सकता है, वह ऐसी प्रक्रिया है जो कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर वारंट वाले मामलों के विचारण के लिए विहित की गई हो। इस प्रकार उपबंध करने के लिए विधानमण्डल की अनिच्छा इसके प्रतिकूल बात की ओर संकेत करती है और अर्थान्वयन का ऐसा कोई भी सिद्धान्त न्यायालय को इस बात की अनुज्ञा नहीं देता है कि वह संज्ञान करने सम्बन्धी विशेष न्यायाधीश की ऐसी शक्ति पर निहित या विवक्षित परिसीमा की जांच करे जो कि केवल पुलिस रिपोर्ट के आधार पर किए जाने की ऐसी अपेक्षा द्वारा निर्बन्धित हो। हमारी राय में, इस सुस्थापित विधिक स्थिति का यह कोई उत्तर नहीं है कि पिछले 32 वर्षों से न्यायालय के ध्यान में ऐसा कोई मामला नहीं आया है जिसमें विशेष न्यायाधीश ने 1947 वाले

1984(2) eILR(PAT) SC 164

अधिनियम के अधीन दण्डनीय अपराध के लिए प्राइवेट परिवाद के आधार पर संज्ञान किया हो। यदि ऐसी कोई बात जो कि विगत में घटी है, ऐसा एकमात्र विश्वसनीय मार्गदर्शक सिद्धान्त है जिससे कि भविष्य में होने वाली किसी बात से वंचित किया जा सके, तो विधि स्थिर हो जाएगी और धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खो देगी।

7. दण्ड प्रक्रिया संहिता में अन्तर्निहित स्कीम से स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि ऐसा कोई व्यक्ति जो कि किसी अपराध की इत्तिला देना चाहता है या तो मजिस्ट्रेट के पास या थाने के भारसाधक अधिकारी के पास जा सकता है। यदि ऐसा अपराध जिसके बारे में परिवाद किया गया है, असंज्ञेय अपराध है, तो पुलिस अधिकारी परिवादी को यह निदेश दे सकता है कि वह या तो मजिस्ट्रेट के पास जाए, या वह स्वयं ही मजिस्ट्रेट की अनुज्ञा अभिप्राप्त कर सकता है और अपराध का संज्ञान कर सकता है। उसी प्रकार से कोई भी व्यक्ति परिवाद के साथ मजिस्ट्रेट के पास जा सकता है और यदि प्रकट किया गया अपराध गम्भीर अपराध है, तो भी मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान कर सकता है और कार्यवाही आरम्भ कर सकता है। मजिस्ट्रेट को यह अधिकार है किन्तु उस पर यह बात बाध्यकारी नहीं है कि वह पुलिस द्वारा अन्वेषण किए जाने का निदेश दे। किन्तु न्यायालय में अपराधों को ले जाने के लिए दो अभिकरण स्थापित किए गए हैं। अतः यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि धारा 5क ने इस स्कीम का स्थान ले लिया है, संगत और स्पष्ट उपबंध की आवश्यकता होगी।

8. भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (संक्षेप में 1947 का अधिनियम) 1947 में कानून के रूप में अस्तित्व में आया था। धारा 5क 1947 में कानून का अंग नहीं थी। धारा 5क पहली बार 1952 में अधिनियम में पुनः स्थापित की गई थी। उसके पूर्व 1947 वाले अधिनियम की धारा 3 में, जो कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 और 165 के अधीन वाले अपराधों को संज्ञेय बनाती थी, एक उपबंध अधिनियमित किया गया था जो कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन वाले अपराधों का अन्वेषण, प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के आदेश से करने के सिवाय, पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति के नीचे के पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने को प्रवारित करता था। दाण्डिक अवचार के अपराध के अन्वेषण के लिए धारा 5 की उपधारा (4) में समान उपबंध किया गया था। धारा 5क उच्चतर पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा अन्वेषण के लिए उपबंध करती है। धारा 5क इस सर्वोपरि खण्ड से प्रारम्भ होती है कि 'दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 में किसी बात के होते हुए भी, ...की पंक्ति से नीचे का कोई पुलिस अधिकारी...नहीं करेगा'। यह बात मानते हुए कि धारा 5क

कतिपय पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण किए जाने की बात को बाध्यकारी नहीं बनाती, विधि की दृष्टि से उसकी क्या स्थिति होगी।

9. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय 12 का शीर्षक यह है : "पुलिस को इत्तिला और उसका अन्वेषण करने की शक्तियां"। धारा 154 में संज्ञेय अपराधों में पुलिस को इत्तिला देने के लिए उपबंध किया गया है। वह धारा थाने के भारसाधक अधिकारी पर यह कर्त्तव्य डालती है कि वह उसे संज्ञेय अपराध के किए जाने से सम्बन्धित दी गई प्रत्येक इत्तिला को लिपिबद्ध करेगा और वह इत्तला देने वाले को पढ़कर सुना दी जाएगी और इत्तिला देने वाला उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा और उसकी एक प्रति उसे दे दी जाएगी। यदि थाने के भारसाधक अधिकारी को दी गई इत्तिला से असंज्ञेय अपराध प्रकट होता है, तो वह उसे ऐसे प्ररूप में, जैसा कि राज्य सरकार इस निमित्त विहित करे, ऐसे अधिकारी द्वारा रखी गई ऐसी पुस्तक में इत्तिला का सार प्रविष्ट कराएगा और इत्तिला देने वाले को मजिस्ट्रेट के पास जाने को निर्देशित करेगा। उपधारा (2) थाने के भारसाधक अधिकारी की शक्ति पर यह प्रतिबंध लगाती है कि वह किसी असंज्ञेय मामले का अन्वेषण ऐसे मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना नहीं करेगा जिसे ऐसे मामले का विचारण करने की या मामले को विचारार्थ सुपुर्द करने की शक्ति है। धारा 156 में संज्ञेय मामलों का अन्वेषण करने के लिए थाने के भारसाधक को शक्ति दी गई है। धारा 156 की उपधारा (2) की ओर ध्यान दिया जा सकता है। उसमें यह कहा गया है कि 'किसी ऐसे मामले में पुलिस अधिकारी की किसी कार्यवाही को किसी भी प्रक्रम में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह मामला ऐसा था जिसमें कि ऐसा अधिकारी इस धारा के अधीन अन्वेषण करने के लिए सशक्त नहीं था'। उपधारा (3) धारा 190 के अधीन सशक्त मजिस्ट्रेट को वह शक्ति प्रदत्त करती है कि वह किसी ऐसे अपराध का संज्ञान कर सकेगा जिसे कि धारा 156 की उपधारा (1) और (2) में यथा-उपवर्णित का अन्वेषण कर सके। धारा 167 मजिस्ट्रेट को इस बात में समर्थ बनाती है कि वह उसमें उल्लिखित परिस्थितियों में पुलिस अभिरक्षा में अभियुक्त का रिमांड कर सके। धारा 173 में यह उपबंध किया गया है कि 'अध्याय 12 के अधीन किया जाने वाले प्रत्येक अन्वेषण अनावश्यक विलम्ब के बिना पूरा किया जाएगा और जैसे ही वह पूरा हो जाता है, वैसे ही पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी पुलिस रिपोर्ट पर उस अपराध का संज्ञान करने के लिए सशक्त मजिस्ट्रेट को राज्य सरकार द्वारा विहित प्ररूप में रिपोर्ट भेजेगा जिसमें इस धारा में प्रगणित विभिन्न बातें उपवर्णित होंगी।' धारा 173 की उपधारा (8) में यह उपबंध किया गया है कि अन्वेषण के पूरे होने पर

रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बावजूद एक ही अपराध के सम्बन्ध में और आगे अन्वेषण किया जा सकता है और इस प्रकार संगृहीत आगे साक्ष्य उसी मजिस्ट्रेट के पास भेजनी पड़ती है। और आगे अन्वेषण की यह रिपोर्ट मोटे तौर से उपधारा (2) से लेकर (6) की अपेक्षाओं के अनुसार होगी। अध्याय 14 में दी गई धाराओं के समूह में कार्यवाहियों के प्रारम्भ किए जाने के लिए अपेक्षित शर्तें विहित की गई हैं। धारा 190 में यह उपबन्ध किया गया है कि इस अध्याय के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, कोई प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट और उपधारा (2) के अधीन विशेषतया सशक्त किया गया कोई द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट किसी भी अपराध का संज्ञान निम्नलिखित दशाओं में कर सकता है—(क) उन तथ्यों से जिनसे ऐसा अपराध बनता है, परिवाद प्राप्त होने पर, (ख) ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस रिपोर्ट पर (ग) और पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी अधिकारी से प्राप्त इस इत्तिला पर या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है। धारा 191 मजिस्ट्रेट को इस बात के लिए बाध्य करती है कि जब वह धारा 190 की उपधारा (1) के खण्ड (ग) के अधीन किसी अपराध का संज्ञान करता है, तो वह अभियुक्त को उस समय इस बात की इत्तिला देगा, जब कि वह उसके समक्ष उपसंजात होता है कि वह किसी अन्य मजिस्ट्रेट से जांच या विचारण कराने का हकदार है। धारा 193 में यह उपबन्ध किया गया है कि इस संहिता द्वारा या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा अभिव्यक्त रूप से जैसा उपबन्धित है उसके सिवाय, कोई सेशन न्यायालय आरम्भिक अधिकारिता वाले न्यायालय के रूप में किसी अपराध का संज्ञान तब तक नहीं करेगा, जब तक मामला इस संहिता के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा उसके सुपुर्द नहीं कर दिया गया है।

10. संज्ञेय अपराध की परिभाषा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (ग) में इस प्रकार की गई है कि उससे 'ऐसा अपराध अभिप्रेत है जिसके लिए और "संज्ञेय मामला" से ऐसा मामला अभिप्रेत है जिसमें, पुलिस अधिकारी प्रथम अनुसूची के या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अनुसार वारंट के बिना गिरफ्तार कर सकता है।' परिवाद की परिभाषा धारा 2 (घ) में की गई है और उससे 'इस संहिता के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा कार्यवाही किए जाने की दृष्टि से मौखिक या लिखित रूप में उससे किया गया यह अभिकथन अभिप्रेत है कि किसी व्यक्ति ने, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात, अपराध किया है, किन्तु इसके अन्तर्गत पुलिस रिपोर्ट नहीं है।' इस धारा से अनुबद्ध एक स्पष्टीकरण भी है जो कि यहां पर कुछ सुसंगत प्रतीत होता है अर्थात् 'ऐसे किसी मामले में जो अन्वेषण

के पश्चात् किसी असंज्ञेय अपराध का किया जाना प्रकट करता है, पुलिस अधिकारी द्वारा की रिपोर्ट परिवाद समझी जाएगी और वह पुलिस अधिकारी जिसके द्वारा ऐसी रिपोर्ट की गई है, परिवादी समझा जाएगा।' धारा 2 (ट) में असंज्ञेय अपराध की परिभाषा दी गई है और उससे 'ऐसा अपराध अभिप्रेत है जिसके लिए और 'असंज्ञेय मामला' से ऐसा मामला अभिप्रेत है जिसमें पुलिस अधिकारी को वारंट के बिना गिरफ्तारी करने का प्राधिकार नहीं होता है। पुलिस रिपोर्ट की परिभाषा धारा 2 (द) में दी गई है और उससे 'पुलिस अधिकारी द्वारा धारा 173 की उपधारा (2) के अधीन मजिस्ट्रेट को भेजी गई रिपोर्ट' अभिप्रेत है। 'पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी' की परिभाषा 2 (ण) में दी गई है और उसके अन्तर्गत 'जब पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी थाने से अनुपस्थित हो या बीमारी या अन्य कारण से अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो, तब थाने में उपस्थित ऐसा पुलिस अधिकारी है, जो ऐसे अधिकारी से पंक्ति में ठीक नीचे है और कांस्टेबल की पंक्ति से ऊपर है, या जब राज्य सरकार ऐसा निदेश दे तब, इस प्रकार उपस्थित कोई अन्य अधिकारी भी है।' अन्य शब्दों में, पुलिस का हैड कांस्टेबल अर्थात् वह जो कांस्टेबल से एक दर्जा ऊंचा होता है, थाने का भारसाधक हो सकता है।

11. अब यहां पर यह उल्लेख किया जा सकता है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 162, 163, 164, 165, 165क और 1947 वाले अधिनियम की धारा 5 (2) के अधीन वाले अपराध संज्ञेय अपराध हैं। यदि वे संज्ञेय अपराध हैं, तो कोई भी व्यक्ति दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 के अधीन अपराध की इत्तिला देने के लिए थाने जा सकता है और पुलिस हैड कांस्टेबल की पंक्ति का अधिकारी ऐसे लोक सेवक के जो कि काफी उच्च पदस्थ अधिकारी हों, असन्तोष और क्षोभ के बावजूद अन्वेषण आरम्भ कर सकता है। इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि 1947 के पूर्व भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 के अधीन वाला अपराध असंज्ञेय अपराध था जिससे यह अभिप्रेत है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 के अधीन मजिस्ट्रेट प्राइवेट परिवाद के आधार पर संज्ञान करेगा और कार्यवाही आरम्भ करेगा। 1947 वाले अधिनियम की धारा 3 द्वारा धारा 161 और 165 के अधीन वाले अपराधों को संज्ञेय अपराध बनाया गया था। विधानमण्डल को इस बात का पता था कि यदि ये दोनों अपराध संज्ञेय हैं, तो हैड कांस्टेबल की पंक्ति का पुलिस अधिकारी ऐसे लोक सेवक के विरुद्ध अन्वेषण आरम्भ करने का- हकदार हो जाएगा जो कि पुलिस राजस्व कराधान या अन्य विभागों में उच्च पदस्थ अधिकारी हो। इस अप्रसन्नकारी

1984(2) eILR(PAT) SC 164

स्थिति के विरुद्ध रक्षोपाय करने की दृष्टि की धारा 161 और 165 के अधीन अधीन वाले अपराधों के लिए धारा 3 द्वारा, जैसी कि वह 1947 में थी, संज्ञेय बनाते हुए, धारा 3 के परन्तुक को पुरःस्थापित करने की ओर ध्यान रखा गया गया जो कि निम्नलिखित रूप में है—

> * "परन्तु पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति से नीचे का पुलिस अधिकारी प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना किन्हीं ऐसे अपराधों का अन्वेषण नहीं करेगा या वारंट के बिना उनके लिए कोई गिरफ्तारी नहीं करेगा।"

संज्ञेय अपराध का अन्वेषण करते हुए, ऐसे अन्वेषण अधिकारी को जो कि थाने का भारसाधक अधिकारी है, वारंट के बिना अभियुक्त को गिरफ्तार करने का अधिकार है। इन अपराधों के आधार पर जो कि संज्ञेय हैं, किसी छोटे पुलिस अधिकारी द्वारा गिरफ्तार किए जाने से लोक सेवक को संरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से तथा विनिर्दिष्ट पंक्ति से नीचे के पुलिस अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले भ्रष्टाचार के अपराध सम्बन्धी अन्वेषण से बचने की दृष्टि से वह परन्तुक अधिनियमित किया गया था जिससे कि निचले स्तर के पुलिस अधिकारी उतनी कड़ी शक्ति का प्रयोग करने से वंचित किया जा सके। तथापि, विधानमण्डल को इस बात का पता था कि पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति का अधिकारी सदैव उपलब्ध नहीं हो सकता और इस बात के विरुद्ध संरक्षा देने के लिए कि कहीं अपराधों के बारे में पता चलने से न रह जाए, इसके अलावा शक्ति प्रदत्त की गई कि यद्यपि मामूली तौर से पूर्वोक्त धाराओं के अधीन लोक सेवक द्वारा अपराध का अन्वेषण पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति से नीचे का अधिकारी नहीं करेगा, तथापि प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट निचली पंक्ति के अधिकारी को इस कानून के होते हुए भी अपराध का अन्वेषण करने की अनुज्ञा दे सकता है। अतः यह कोशिश की गई कि वर्तमान धारा 5क के पूर्ववर्ती उपबन्ध में जो कि धारा 3 का परन्तुक था, रक्षोपाय समाविष्ट किया जाए अर्थात् यह कि ये अपराध संज्ञेय हो जाने के कारण पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति से नीचे के अधिकारी द्वारा उनका अन्वेषण

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "Provided that a police office below the rank of Deputy Superintendent of Police shall not investigate any such offences without the order of a Magistrate of the First Class or make any arrest therefor without a warrant."

नहीं किया जाएगा। किंतु यदि यह इतना आवश्यक हो जाता है, तो वह प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना नहीं किया जाएगा। यदि इस कार्य को पुलिस पर ही छोड़ दिया जाए, तो वरिष्ठ पंक्ति के अभिहित अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण से तुच्छ अन्वेषण के विरुद्ध संरक्षा प्राप्त हो जाएगी। व्यापक लोक हित में ऐसे उच्च अधिकारियों की अनुपलभ्यता सम्बन्धी कमी की पूर्ति, ऐसे अपराधों का अन्वेषण करने के लिए पदाभिहित अधिकारी से निचली पंक्ति के अधिकारी को अनुज्ञा देने विषयक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को शक्ति प्रदत्त करके, की गई। इस स्थिति से दो निष्कर्ष निकलते है: अर्थात् यह कि उच्चतर पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा अपने आप ही अन्वेषण करने के परिणामस्वरूप तुच्छ या काल्पनिक अभियोजन समाप्त हो जाएगा, किन्तु यदि पदाभिहित अधिकारी से निचली पंक्ति का अधिकारी ऐसे कारणों से अन्वेषण अपने हाथ में लेता है जिनके आधार पर उसे प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को विश्वास दिलाना होगा, तो भी विधानमण्डल ने यह समझा कि न्यायालयों का मध्यक्षेप निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के विरुद्ध पर्याप्त रक्षोपाय है। यहां पर यह उल्लेख किया जा सकता है कि धारा 5 पहले पहल भ्रष्टाचार निवारण (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1952 द्वारा पुरः स्थापित की गई थी किन्तु उसके स्थान पर 1964 के अधिनियम सं० 40 द्वारा जो कि संथानम समिति की सिफारिशों को प्रभावी बनाने के लिए अधिनियमित किया गया था, वर्तमान धारा 5 प्रतिस्थापित की गई। धारा 5क पुलिस बल में के वरिष्ठ पंक्ति के ऐसे अधिकारियों को विनिर्दिष्ट करती है जिनको भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165, 165क और 1947 वाले अधिनियम की धारा 5 के अधीन वाले अपराधों का अन्वेषण करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। साथ ही साथ, यथास्थिति, प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को पदाभिहित अधिकारी से, पंक्ति में, नीचे के अधिकारी को अन्वेषण करने की अनुज्ञा देने और वारंट के बिना गिरफ्तार करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। इसके अलावा, विधायी आशय धारा 5 के परन्तुक से भी प्रकट होता है जो कि राज्य सरकार को इस बात में समर्थ बनाती है कि वह प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना, ऐसे पुलिस अधिकारी को जो कि पुलिस निरीक्षक की पंक्ति से नीचे न हो, पूर्वोक्त अपराधों का अन्वेषण करने के लिए साधारण या विशेष आदेश द्वारा प्राधिकृत कर सकेगी, और वह वारंट के बिना गिरफ्तार कर सकेगा। पुनः धारा 5क (1) के खण्ड (क) से लेकर (घ) तक में उच्चतर पंक्ति के अधिकारियों को विनिर्दिष्ट करते हुए जो, कि पद के बल पर, पूर्वोक्त अपराधों का संज्ञेय अपराधों के रूप में अन्वेषण करने के हकदार होगें तथा वारंट के बिना गिरफ्तारी भी

कर सकेगी, प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को इस बात की शक्ति प्रदत्त की गई थी कि वह पदाभिहित पंक्ति के अधिकारी से निचली पंक्ति के अधिकारियों को ऐसे अपराधों का अन्वेषण करने का प्राधिकार देकर इस संरक्षा को समाप्त कर सकेगा और यह परन्तुक उस रक्षोपाय में और आगे हस्तक्षेप करता है, क्योंकि राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा इन अपराधों का अन्वेषण करने के लिए पदाभिहित पंक्ति को पुलिस निरीक्षक की पंक्ति तक नीचे ला सकती है।

12. इस दलील का संपूर्ण सार यह है कि 1947 वाले अधिनियम की धारा 5 अभियुक्त के पक्ष में ऐसा रक्षोपाय समाविष्ट करती है कि उसका वास्तविक निर्वचन करने पर विशेष न्यायाधीश को यह अधिकार नहीं रह जाता है कि वह पुलिस रिपोर्ट के आधार पर जो कि प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा प्रदत्त अभिहित पंक्ति के अधिकारी द्वारा या राज्य सरकार द्वारा साधारण या विशेष आदेश निकालकर प्राधिकृत किए गए पुलिस निरीक्षक द्वारा प्रस्तुत की जाए, संज्ञान करने के सिवाय, संज्ञान करे, और इसी कारण सुतराम, वह प्राइवेट परिवाद के आधार पर विशेष न्यायाधीश द्वारा किए जाने वाले संज्ञान को अपवर्जित करेगा, क्योंकि उससे धारा 5 में विहित रक्षोपाय पूरी तरह से भ्रामक हो जाएगा। यह बात कही गई कि जहां किसी व्यक्ति को उसके स्वातंत्र्य से वंचित किए जाने की धमकी दी जाती है और विहित प्रक्रिया में कानूनी रक्षोपाय समाविष्ट किए गए हैं, तो न्यायालय ऐसे रक्षोपायों के प्रभाव को कम करने या उन्हें समाप्त करने या उन्हें अप्रभावी बनाने में बहुत ही अनिच्छुक होगा। यह बात कही गई कि यदि न्यायालयों को यह अभिनिर्धारित करना होता कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद ग्रहण कर सकता है और पश्चात्कथित पदाभिहित पंक्ति के अधिकारी द्वारा उस परिवाद का सीधे ही अन्वेषण करने के लिए बाध्य नहीं है, तो धारा 5 में समाविष्ट रक्षोपाय भ्रामक हो जाता है और वह अननुज्ञेय है।

13. और आगे बढ़ने के पूर्व दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 के मुख्य उपबन्धों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जैसा कि उस अधिनियम के लम्बे शीर्षक से दर्शित होता है, वह भारतीय दण्ड संहिता और दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 का संशोधन करने के लिए और कतिपय अपराधों का अधिक शीघ्रता से विचारण करने के वास्ते उपबन्ध करने के लिए अधिनियमित किया गया था। धारा 1क परिभाषा सम्बन्धी खण्ड है। धारा 2, 3; 4 और 5 विभिन्न संशोधनों द्वारा निरसित कर दी गई हैं। उसके बाद धारा 6 आती है। वह निम्नलिखित रूप में है—

"6. (1) राज्य सरकार, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इतने विशेष न्यायाधीश नियुक्त कर सकेगी, जितने ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए आवश्यक हों जो निम्नलिखित अपराधों के विचारण के लिए अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किए जाएं, अर्थात्—

(क) भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, धारा 162, धारा 263, धारा 164, धारा 165 या धारा 165क के अधीन या भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5 के अधीन दण्डनीय अपराध,

(ख) खण्ड (क) में विनिर्दिष्ट अपराधों में से किसी को करने के लिए षड्यंत्र या करने का प्रयत्न या दुष्प्रेरण ।

(2) कोई व्यक्ति इस अधिनियम के अधीन विशेष न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने के लिए अर्हित नहीं होगा जब तक कि वह दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 के अधीन सेशन्स न्यायाधीश या अपर सेशन्स न्यायाधीश या, सहायक सेशन्स न्यायाधीश नहीं है या नहीं रहा है ।"

धारा 7, धारा 6 के अधीन नियुक्त विशेष न्यायाधीशों को धारा 6 (1) (क) और धारा 6 (1) (ख) में उपवर्णित मामलों का विचारण करने की अनन्य अधिकारिता प्रदत्त करती है। धारा 7 की उपधारा (2) में यह उपबन्ध किया गया है कि धारा 6 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट प्रत्येक अपराध उस क्षेत्र के विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारणीय होगा जिसमें वह किया गया था या जहां ऐसे क्षेत्र के लिए एक से अधिक विशेष न्यायाधीश हैं, वहां उनमें से ऐसे न्यायाधीश द्वारा इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा विनिर्दिष्ट किया जाए। धारा 3 विशेष न्यायाधीश की अधिकारिता का विस्तार न केवल ऐसे अपराधों पर करती है जो कि धारा 6 (1) (क) और (ख) में उपवर्णित हो बल्कि उन अपराधों पर भी करती है जो कि उनमें उल्लिखित अपराधों से भिन्न हों जिनका आरोप अभियुक्त पर दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन उसी विचारण में लगाया जा सके। धारा 7 से तीन बातें सामने आती हैं। विशेष न्यायाधीश को धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रमाणित अपराधों का विचारण करने की अनन्य अधिकारिता है। जहां कि एक ही क्षेत्र के लिए एक से अधिक विशेष न्यायाधीश हैं, वहां राज्य सरकार प्रत्येक विशेष न्यायाधीश की स्थानीय अधिकारिता विनिर्दिष्ट करने के लिए बाध्य होती है। वह मामला-वार हो सकता है, क्षेत्र-वार हो सकता है। उपधारा (3) ऐसे अन्य अपराधों का विचारण करने की अधिकारिता का विस्तार करती है, जो कि एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किए

गए हों और जिनके लिए अभियुक्त पर एक ही विचारण में आरोप लगाया जा सकता था। उसके बाद धारा 8 आती है। वह निम्नलिखित रूप में है—

"8 (1) बिना अभियुक्त के विचारणार्थ सुपुर्द किए गए, विशेष न्यायाधीश अपराधों का संज्ञान कर सकता है, और अभियुक्त व्यक्ति के विचारण में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 में मजिस्ट्रेटों द्वारा वारण्ट के मामलों के लिए विहित प्रक्रिया का अनुसरण करेगा।

(2) ऐसे व्यक्ति का साक्ष्य प्राप्त करने की दृष्टि से जिसका प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः किसी अपराध से संपृक्त होना या संसर्गी होना अनुमित है, विशेष न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति और प्रत्येक अन्य संपृक्त व्यक्ति को, चाहे वह उस अपराध में मुख्य रहा हो या दुष्प्रेरक रहा हो उसके अपराध से सम्बन्धित उसकी जानकारी की सभी परिस्थितियों को पूर्ण और सत्य प्रकटन करने की शर्त पर क्षमा प्रदान कर सकता है और इस प्रकार दी गई क्षमा दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 339 और 339क के प्रयोजनों के लिए संहिता की धारा 338 के अधीन प्रदत्त की गई समझी जाएगी।

(3) उपधारा (1) या उपधारा (2) में यथा-उपबन्धित के सिवाय, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 के उपबन्ध जहां तक वे इस अधिनियम से असंगत नहीं हैं, विशेष न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाहियों को लागू होंगे; और उक्त उपबन्धों के प्रयोजनार्थ, विशेष न्यायाधीश का न्यायालय बिना जूरी के या बिना असेसर की सहायता के विचारण करने वाला सेशन्स न्यायालय समझा जाएगा और विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन संचालित करने वाला व्यक्ति लोक अभियोजक समझा जाएगा।

(3क) विशिष्टतया, और उपधारा (3) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 350 और धारा 549 के उपबन्ध, जहां तक हो सके, विशेष न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाही को लागू होंगे और उक्त उपबन्धों के प्रयोजनार्थ विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट समझा जाएगा।

(4) विशेष न्यायाधीश उसके द्वारा दोषसिद्ध व्यक्ति को कोई भी दण्डादेश दे सकता है जो उस अपराध के लिए जिसके लिए ऐसा व्यक्ति दोषसिद्ध है, विधि द्वारा प्राधिकृत है।"

यह उल्लेख किया जा सकता है कि धारा 8 पश्चिमी बंगाल राज्य को लागू नहीं होती। यह बात पश्चिमी बंगाल राज्य से उत्पन्न होने वाले विषय से सम्बन्धित विनिश्चयों में किन्हीं को समझने के लिए सुसंगत है। धारा 9 में अपील पुनरीक्षण और अन्य ऐसी आनुषंगिक शक्तियों के विषय में, जिसका प्रयोग उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों पर करता है, विशेष न्यायाधीश के राज्य के उच्च न्यायालय की अधीनस्थता के लिए उपबन्ध किया गया है। धारा 10 में कतिपय ऐसे मामलों के अन्तरण के लिए उपबन्ध किया गया है जो कि 1952 वाले अधिनियम के प्रारम्भ होने पर लम्बित हैं।

14. इस दलील की विस्तृत परीक्षा करने के पूर्व कि धारा 5क में विशेष न्यायाधीश द्वारा किसी अपराध का संज्ञान करने की पूर्ववर्ती शर्त समाविष्ट है, स्पष्टता और निश्चितार्थता के साथ यह बताना आवश्यक है कि धारा 8 (1) जो कि विशेष न्यायाधीश को धारा 6 (1) (क) और (ख) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः, अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा यह उपदर्शित नहीं करती कि संज्ञान करने का एकमात्र ढंग धारा 5क में यथा-उपवर्णित अभिहित पंक्ति के या अनुज्ञेय पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 (2) के अधीन प्रस्तुत पुलिस रिपोर्ट है। उसमें मात्र यह कहा गया है कि 'बिना अभियुक्त के विचारणार्थ सुपुर्द किए विशेष न्यायाधीश अपराधों का संज्ञान कर सकता है और अभियुक्त व्यक्ति के विचारण में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 में मजिस्ट्रेटों द्वारा वारण्ट के मामलों के लिए विहित प्रक्रिया का अनुसरण करेगा" दण्ड प्रक्रिया संहिता में अपराधों का विचारण करने के लिए सक्षम न्यायालयों द्वारा उनका संज्ञान करने के चार ज्ञात ढंग विहित किए गए हैं। न्यायालय को कार्यवाही का प्रारम्भ करने की बात अनुध्यात करने के पूर्व अपराध का संज्ञान करना पड़ता है। उस न्यायालय को जिससे किसी अपराध का संज्ञान करने की प्रार्थना की जाती है, अपने समक्ष पेश किए गए तथ्यों के सम्बन्ध में या तो पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या परिवाद के आधार पर या किसी ऐसी अन्य रीति से जिसमें कि न्यायालय को उसके बारे में पता चला था, और सेशन न्यायालय की दशा में, मजिस्ट्रेट द्वारा उस मामले की सुपुर्दगी किए जाने पर, अपने मस्तिष्क का प्रयोग करना चाहिए।

15. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 में, प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय के अधीन दण्ड न्यायालयों के स्थापित किए जाने के लिए उपबन्ध किया गया है। वे ये हैं : (i) सेशन न्यायालय; (ii) प्रथम वर्ग न्यायिक

मजिस्ट्रेट और किसी महानगर क्षेत्र में महानगर मजिस्ट्रेट; (iii) द्वितीय वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट, और (iv) कार्यपालक मजिस्ट्रेट। प्रत्येक राज्य में ये ही दण्ड न्यायालय होते हैं। संहिता में अपराधों का अन्वेषण करने के लिए हकदार पुलिस अधिकारियों की शक्तियों के, अन्वेषण की प्रक्रिया के, ऐसे अपराधों का जिसका विचारण संहिता के अधीन करने के लिए वह विशिष्ट न्यायालय हकदार है, संज्ञान करने की विभिन्न न्यायालयों की शक्तियों के लिए विस्तृत उपबन्ध किया गया है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 मजिस्ट्रेट को उसमें विहित रीतियों में से एक रीति में से अपराध का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है। धारा 190 में आई हुई 'मजिस्ट्रेट' अभिव्यक्ति ऐसा सारगर्भित पद है जिसके अन्तर्गत प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट, महानगर मजिस्ट्रेट, द्वितीय वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट और कार्यपालक मजिस्ट्रेट हैं। ये सभी तीनों धारा 190 में अनुध्यात हैं। किन्तु आरम्भिक अधिकारिता का एक दूसरा भी न्यायालय है, अर्थात् सेशन न्यायालय जो कि धारा 6 के अधीन स्थापित किया गया है। क्या सेशन न्यायालय उसके समक्ष फाइल किए गए परिवाद के आधार पर सीधे ही संज्ञान कर सकता है? इसका उत्तर स्पष्टतः नकारात्मक है, क्योंकि धारा 193 में यह उपबन्ध किया गया है कि 'इस संहिता द्वारा या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा अभिव्यक्त रूप से, जैसा उपबन्धित है, उसके सिवाय कोई सेशन न्यायालय आरम्भिक अधिकारिता वाले न्यायालय के रूप में किसी अपराध का संज्ञान तब तक नहीं करेगा जब तक कि मामला मजिस्ट्रेट द्वारा उसके सुपुर्द नहीं कर दिया गया है।' अन्य शब्दों में, सेशन न्यायालय मजिस्ट्रेट द्वारा की गई सुपुर्दगी के आदेश के आधार पर ही, न कि किसी अन्य रीति से अपराध का संज्ञान कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप सेशन न्यायालय को मामलों की सुपुर्दगी के लिए मजिस्ट्रेट को शक्ति प्रदत्त करने की आवश्यकता महसूस हुई थी। दण्ड प्रक्रिया संहिता ऐसे विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए पर्याप्त उपबन्ध करती है जो कि प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट, महानगर मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय हैं, द्वितीय वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय हैं और सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय हैं। दण्ड प्रक्रिया संहिता से उपाबद्ध प्रथम अनुसूची के स्तम्भ 6 में यह विनिर्दिष्ट किया गया है कि कौन-सा न्यायालय भारतीय दण्ड संहिता के अधीन वाले विशिष्ट अपराध का विचारण कर सकता है। तदनुसार, प्राइवेट परिवाद के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट के आधार पर उसके समक्ष लाए गए मामले की मजिस्ट्रेट द्वारा की जाने वाली सुपुर्दगी के लिए धारा 209 में उपबन्ध किया गया है, परन्तु यह तब जबकि वह अपराध सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय है। यदि मजिस्ट्रेट ऐसे परिवाद के आधार पर अपराध का

संज्ञान करता है जो कि सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय प्रतीत होता है, तो उसे धारा 202 (2), 208 और 209 के अनुसार कार्यवाही करनी पड़ती है। अध्याय 18 में ऐसे उपबन्ध समाविष्ट किए गए हैं जो कि सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण के लिए प्रक्रिया विहित करते हैं। धारा 226 में यह कहा गया है कि मामला धारा 209 के अधीन उसके सुपुर्द किए जाने के अनुसरण में न्यायालय के समक्ष लाया जाता है। धारा 209 में ऐसी स्थिति के लिए उपबन्ध किया गया है जिसमें वह मामला पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा मजिस्ट्रेट के समक्ष संस्थित किया गया था। दोनों ही मामलों में यदि उसे यह प्रतीत होता है कि वह अपराध जिसकी बाबत यह अभिकथित किया गया है कि उसे अभियुक्त ने किया था, सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय है, तो सेशन न्यायालय को उस मामले की सुपुर्दगी करने के अतिरिक्त कोई भी विकल्प नहीं है। इस प्रकार सेशन न्यायालय मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी के आधार पर अपराध का संज्ञान करता है। और संज्ञान करने का कोई दूसरा ढंग धारा 193 के अधीन विनिर्दिष्ट रूप से वर्जित है।

16. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 4 में निम्नलिखित रूप में उपबन्ध किया गया है—

> "4 (1) भारतीय दण्ड संहिता के अधीन सब अपराधों का अन्वेषण, जांच, विचारण और उनके सम्बन्ध में अन्य कार्यवाही इसमें इसके पश्चात् अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अनुसार की जाएगी।
>
> (2) किसी अन्य विधि के अधीन सब अपराधों का अन्वेषण, जांच, विचारण और उनके सम्बन्ध में अन्य कार्यवाही इन्हीं उपबन्धों के अनुसार किन्तु ऐसे अपराधों के अन्वेषण, जांच, विचारण या अन्य कार्यवाही की रीति या स्थान का विनियमन करने वाली तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति के अधीन रहते हुए, की जाएगी।"

धारा 4 (1) में भारतीय दण्ड संहिता के उपबन्धों के अनुसार उसके अधीन प्रत्येक अपराध के अन्वेषण, जांच या विचारण के लिए उपबन्ध किया गया है। धारा 4 (2) में किसी ऐसी अन्य विधि के अधीन अपराधों के लिए उपबन्ध किया गया है जिसका अन्वेषण, जांच, विचारण या अन्यथा कार्यवाही दण्ड प्रक्रिया संहिता के उपबन्धों के अनुसार की जाए, किन्तु ऐसे अपराधों के अन्वेषण जांच या विचारण या अन्य कार्यवाही की रीति या स्थान का विनियमन करने वाली तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति के अधीन रहते हुए, किए जाएंगे।

कानून में यह उपदर्शित करते हुए विनिर्दिष्ट उपबन्ध के अभाव में कि अपराधों का अन्वेषण, जांच या विचारण या उनके सम्बन्ध में अन्यथा कार्यवाही उस कानून के अनुसार की जाएगी, उसका अन्वेषण, जांच, विचारण या अन्यथा कार्यवाही दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुसार की जाएगी। अन्य शब्दों में, दण्ड प्रक्रिया संहिता ऐसा मुख्य कानून है जिसमें विभिन्न पदाभिदानों के दण्ड न्यायालयों द्वारा मामलों के अन्वेषण, जांच और विचारण के लिए उपबन्ध किया गया है।

17. दण्ड प्रक्रिया संहिता में किसी अपराध का संज्ञान करने के केवल चार ढंग विहित किए गए हैं—यह तथ्य कि क्या वह मजिस्ट्रेट द्वारा या सेशन न्यायालय द्वारा किया जाना है, तत्समय अतात्विक है। संहिता में परिवाद के आधार पर या किसी पुलिस अधिकारी की रिपोर्ट पर या जहां स्वयं मजिस्ट्रेट किसी अन्य स्रोत से अपराध के करने के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है और सेशन न्यायालय की दशा में, मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी करने पर संज्ञान करने के चार ढंग विहित किए गए हैं। दण्ड न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान करने का अन्य कोई ज्ञात या मान्य ढंग नहीं है। यदि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय दण्ड न्यायालय है, जिसके सम्बन्ध में कम से कम कोई विवाद नहीं था और अपराधों का संज्ञान करने के लिए विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के पीठासीन अधिकारी को अधिकारिता प्रदत्त की जाती है तथा साथ ही साथ संज्ञान करने के चार मान्य ढंगों में से एक ढंग को अपवर्जित कर दिया दिया जाता है, अर्थात् धारा 193 में यथा उपवर्णित मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी के आधार पर किए जाने वाले संज्ञान करने के ढंग को अपवर्जित कर दिया जाता है, तो विशेष न्यायाधीश का न्यायालय जिस एकमात्र अन्य ढंग से किसी अपराध का संज्ञान कर सकता है जिसके लिए वह स्थापित किया गया था, वह विधि को ज्ञात बचे हुए तीन अन्य ढंगों में से एक है जिसके द्वारा दण्ड न्यायालय अपराध का संज्ञान करेगा, जो कि मात्र औपचारिकता न होकर कार्यवाही आरम्भ करने की दृष्टि से और अंत में अभियुक्त का विचारण करने की दृष्टि से ही होगा। यदि धारा 8 (1) में प्रयुक्त भाषा को इस रोशनी और पृष्ठभूमि में पढ़ा जाता है कि विशेष न्यायाधीश विचारण के लिए अभियुक्त को सुपुर्द किए बिना अपराध का संज्ञान कर सकता है, तो इससे निश्चित रूप से यह विवक्षित है कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने की शक्ति से लैस किया गया है किन्तु यह कि उसे मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी करने पर संज्ञान करने की शक्ति से वंचित किया गया है। यह धारा 193 के अधीन संज्ञान करने के ढंग को अपवर्जित करती है। तो फिर केवल धारा 190 ही बच रहती है जिसमें न्यायालयों द्वारा अपराधों का संज्ञान करने के विभिन्न ढंगों के लिए उपबंध

किया गया है। यह कहना व्यर्थ है कि धारा 190 केवल मजिस्ट्रेट तक ही सीमित है और विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट नहीं है। हम कुछ और आगे चलकर विशेष न्यायाधीश की स्थिति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करेंगे। तथापि तथ्य यह बच रह जाता है कि जैसा कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय अभिव्यक्ति का प्रयोग धारा 8 की उपधारा (3) में किया गया है, वह दण्ड न्यायालय है और धारा 9 को देखते हुए वह उच्च न्यायालय की अपीली और प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन है। उसे उसका विचारण करने की दृष्टि से अपराधों का संज्ञान अवश्य ही करना चाहिए किन्तु वह न्यायालय को अभियुक्त की सुपुर्दगी पर उसका संज्ञान नहीं करेगा। आवश्यक परिणामस्वरूप यह अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए कि विशेष न्यायाधीश परिवाद के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या किसी अपराध के किसी रीति से किए जाने के सम्बन्ध में स्वयं ही जानने पर धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान कर सकता है। संज्ञान करने के ढंगों में से अन्तिम ढंग के सम्बन्ध में इस बात पर जोर दिया गया कि यह दर्शित करने के लिए कोई भी अन्तर्निहित साक्ष्य मौजूद नहीं है कि विशेष न्यायाधीश धारा 190 (1) (ग) का लाभ इसलिए नहीं उठा सकता क्योंकि धारा 191 उसे इस प्रकार उपलभ्य नहीं है जिससे कि वह उस मामले का अन्तरण कर सके। कुछ आगे चलकर हम यह बताएंगे कि संहिता के उपबंध विशेष न्यायाधीश को ऐसी रीति से और ऐसी सीमा तक लागू करने पड़ेंगे जिससे कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय की अलग पहचान कायम रह सके न कि उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय की भूमिका अवश्य ही निभानी चाहिए।

18. यह अर्थान्वयन का सुस्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय किसी धारा को उसी प्रकार पढ़े जैसी कि वह है और अपनी सुविधा के अनुकूल बनाने के लिए उसका पुनः प्रारूपण नहीं कर सकता ; और न ही अर्थान्वयन का कोई सिद्धान्त न्यायालय को इस बात की अनुज्ञा देता है कि वह उस धारा को ऐसी रीति से पढ़े जिससे कि वह कुछ सीमा तक व्यर्थ हो जाए। धारा 8 (1) में यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश किसी अपराध का संज्ञान करेगा और उसका संज्ञान अभियुक्त की सुपुर्दगी किए जाने पर नहीं करेगा। विधानमण्डल ने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों स्थितियों के लिए उपबंध किया था। उसने निश्चित रूप से विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त की और उसने नकारात्मक रूप से सुपुर्दगी की किसी भी संकल्पना को समाप्त कर दिया था। अतः धारा 8 (1) को इस प्रकार पढ़ना सम्भव नहीं है मानो कि अपीलार्थी की ओर से यह अभिवचन किया गया है कि पुलिस

रिपोर्ट के आधार पर ही संज्ञान किया जा सकता है और यदि कोई दूसरा मत अपनाया जाता है तो उससे धारा 5क के अधीन किया गया रक्षोपाय भ्रामक हो जाएगा।

19. यह सुस्थापित प्रतीत होता है कि धारा 5 द्वारा अनुध्यात अन्वेषण मामूली तौर से अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा हाथ में लिया जाना चाहिए और मजिस्ट्रेट की अनुज्ञा से ऐसा करने के सिवाय निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा किया जाने वाला अन्वेषण वर्जित है। यह हो सकता है कि किसी विशिष्ट मामले में अभिहित पंक्ति से नीचे की पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण के लिए मजिस्ट्रेट द्वारा की गई अनुज्ञा न्यायिक रूप से पुनर्विलोकन किए जाने के लायक हो। यदि ऐसे मामलों में जिनमें धारा 5क के अधीन अन्वेषण की प्रक्रिया में कोई अवैधता या अनियमितता प्रारंभिक प्रक्रम में न्यायालय के ध्यान में लाई गई है, तो अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा नए सिरे से अन्वेषण किए जाने का निदेश दिया गया है। किन्तु यह बात इस सुमान्य विधिक स्थिति के अध्यधीन है कि न्यायालय अन्वेषण के मामले में किसी अवैधता को उस दिशा में कोई महत्व नहीं देगा, यदि उसका अवलम्ब ऐसे प्रतिकूल प्रभाव के अभाव में जिसके बारे में अभिवचन किया गया हो या जो सिद्ध किया गया हो, विचारण की समाप्ति पर लिया गया हो। प्रश्न यह है कि क्या ये पहलू विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करने की 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) के अधीन प्रदत्त विनिर्दिष्ट शक्ति के अलावा सुमान्य साधारण सिद्धांत के लिए अपवाद का कार्य करते हैं, क्योंकि एकमात्र अपवाद या उसको की गई सुपुर्दगी के आधार पर नहीं है कि कोई व्यक्ति दण्ड विधि को गति में ला सकता है ?

20. अतः किन्हीं ऐसे विनिश्चयों पर, जिनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है, हमें इस दलील को साबित करने के लिए विचार करना चाहिए कि धारा 5 में अभियुक्त के पक्ष में रक्षोपाय समाविष्ट किए गए हैं। वास्तव में उनमें से प्रत्येक के विनिश्चयाधार तक पहुँचने के लिए विस्तार में इन विनिश्चयों का विश्लेषण करने की सचमुच आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में कोई भी संविवाद नहीं उठाया गया है कि धारा 5क में रक्षोपाय समाविष्ट किए गए हैं किन्तु रक्षोपाय की सीमाएं कुछ निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा अन्वेषण के विरुद्ध उस दिशा में है, यदि धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान कर लिया गया है। रक्षोपाय की सीमा यह है कि मामूली तौर से ऐसे अपराधों का अन्वेषण मजिस्ट्रेट की अनुज्ञा से करने के सिवाय या धारा 5 के प्रथम परन्तुक के अनुसार करने के सिवाय,

पदाभिहित पंक्ति के अधिकारियों द्वारा ही हाथ में लिया जाएगा । दलील यह है कि उसके वास्तविक मूल्यांकन पर विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराधों का संज्ञान किए जाने के पूर्व, वह रक्षोपाय स्पष्ट रूप से पूर्ववर्ती अन्वेषण की दिशा की ओर संकेत करता है और यदि कोई दूसरा मत अपनाया जाता है, तो उससे वह रक्षोपाय या तो निष्प्रभाव हो जाएगा या उससे बहुत भ्रामक हो जाएगा । यह दलील दी गई कि यदि त्रुटिपूर्ण अन्वेषण के परिणामस्वरूप कार्यवाहियां दूषित हो सकती हैं, तो भी जैसा कि धारा 5क द्वारा अनुध्यात है, किसी भी प्रकार के अन्वेषण के पूरी तरह से अभाव के परिणास्वरूप, जो कि स्थिति उस दिशा में होगी, यदि विशेष न्यायाधीश किसी प्राइवेट परिवाद को सीधे ही ग्रहण कर ले, आवश्यक रूप से कार्यवाही दूषित हो जाएगी ।

21. इस दलील का आधार यह था कि **एच० एन० रिशबुड एण्ड इन्द्र सेन** बनाम **दिल्ली राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किया गया विनिश्चय था । उस मामले में जो प्रश्न पूछा गया था, वह यह था कि क्या 1947 वाले अधिनियम की धारा 5क तक का उपबन्ध जो कि यह अपेक्षा करता है कि उसमें विनिर्दिष्ट अपराधों का अन्वेषण मजिस्ट्रेट के विनिर्दिष्ट आदेश के बिना उपपुलिस अधीक्षक से निचली पंक्ति के किसी पुलिस अधिकारी द्वारा नहीं किया जाएगा, निदेशात्मक है या आज्ञापक ? न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि धारा 5क आज्ञापक है न कि निदेशात्मक और यह कि उसके अतिक्रमण में किया गया अन्वेषण अवैध होता है । इस प्रकार जहां तक कि मामले के अन्वेषण का सम्बन्ध है, इस न्यायालय ने निश्चित राय यह व्यक्त की है कि 5क में अन्तर्विष्ट उपबन्ध का उल्लंघन करते हुए किसी पुलिस अधिकारी द्वारा जो अन्वेषण किया जाता है, वह अवैध होता है । यह बात कि समाप्त विचारण के परिणाम पर इस अवैधता का क्या परिणाम होता है, हमारे विचार के लिए उत्पन्न ही नहीं होती है । किन्तु कतिपय ऐसे मत हैं जिनका अवलम्ब इस बात पर जोर देने के लिए लिया गया था कि चूंकि धारा 5क के अधीन पूर्विक अन्वेषण के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह आज्ञापक है और चूंकि विशेष न्यायाधीश धारा 5 के अनुसार विधिमान्य और वैध अन्वेषण के अंत में पुलिस रिपोर्ट के आधार किसी अपराध का संज्ञान कर सकता है, इसलिए आवश्यक विवक्षा द्वारा प्राइवेट परिवाद के आधार पर 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (1) के अधीन विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराध का संज्ञान करने की बात अपवर्जित है । स्पष्ट रूप से हमें यह कहना चाहिए कि हमें इस निर्णय में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती है जिसका दूर

---

1 [1955] एस० सी० आर० 1150.

1984(2) eILR(PAT) SC 164

का भी सम्बन्ध इस दलील से हो। धारा 5क अभिहित अधिकारियों से निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के विरुद्ध रक्षोपाय है। इस सम्बन्ध में पृष्ठ 1159 पर इस न्यायालय ने निम्नलिखित रूप में मत व्यक्त किया था—

> "लोक सेवकों द्वारा उन अपराधों को असंज्ञेय बनाने में जो अन्तर्निहित नीति है, वह यह प्रतीत होती है कि ऐसे लोक सेवकों को जिन्हें अपने कृत्यों का निर्वहन करना होता हैं—और प्राय: काफी कठिन परिस्थितियों में करना पड़ता है—प्रभावित व्यक्तियों द्वारा अपने पदीय कार्यों के परिणामस्वरूप कदाचित दी गई जानकारी के आधार पर उनके विरुद्ध अन्वेषण करने के लिए परेशान न किया जाए, जब तक कि मजिस्ट्रेट का समाधान न हो गया हो कि अन्वेषण की आवश्यकता है और ऐसे समाधान के आधार पर उसे वह प्राधिकृत न कर दे। इससे लोक सेवकों द्वारा, भय या पक्षपात के बिना, अपने शासकीय कृत्यों के तत्परतापूर्वक निर्वहन को सुनिश्चित करना अभिप्रेत है। अत: जबकि विधानमण्डल ने भ्रष्टाचार के उन अपराधों को संज्ञेय बनाकर लोक सेवकों से वहां तक संरक्षा हटाना ठीक समझा, जहां तक कि अधिनियम में समाविष्ट ऐसे अपराधों के अन्वेषण का सम्बन्ध है, तो इस बात की उपधारणा की जा सकती है कि यह अपेक्षा करके कि अन्वेषण प्रसामान्यत: अभिहित उच्चतर पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा करना होता है, सम्यक परेशानी से प्रतिस्थापित रक्षोपाय के लिए उपबन्ध करना आवश्यक समझा गया।"

इस विचार के कारण सन्देह के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं बच रहेगी कि धारा 5क में समाविष्ट रक्षोपाय अभिहित पंक्ति से निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा किए गए अन्वेषण के विरुद्ध है और यह कि मजिस्ट्रेट निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण की अनुज्ञा दे सकता है। तथापि इस बात पर जोर दिया गया कि धारा 6 (1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों के सम्बन्ध में कार्यवाहियां प्रारम्भ करने के लिए सुसंगत महत्वपूर्ण तीन प्रक्रमों को उस निर्णय में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है जबकि पृष्ठ 1162 पर यह मत व्यक्त किया गया है कि : 'अन्वेषण के पूर्व संज्ञान किया जाता है और संज्ञान के बाद विचारण होता है'। संज्ञेय अपराधों के सम्बन्ध में संहिता की आधारभूत युक्ति यही है। किन्तु वह भी जहां कि संज्ञेय अपराध के सम्बन्ध में इत्तिला देने वाला थाने के भारसाधक अधिकारी के पास जाता है, जबकि संज्ञेय अपराध

की दिशा में, किसी अपराध के सम्बन्ध में इत्तिला प्राप्त होने पर कोई पुलिस अधिकारी अध्याय 12 के अधीन कार्यवाही आरम्भ करता है, तो वह अन्वेषण आरम्भ करता है और तब अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है जिसे पुलिस रिपोर्ट कहा जाता है और जिसके आधार पर संज्ञान किया जाता है और उसके बाद विचारण होता है। और क्रम से ये तीनों प्रक्रम थाने के भारसाधक अधिकारी या किसी विशिष्ट अपराध का अन्वेषण करने के हकदार पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के सम्बन्ध में उपवर्णित है। यह वाक्य इस दलील को समर्थन देने के लिए कि किसी भी मामले में धारा 5क के अधीन पहले अन्वेषण किए बिना संज्ञान नहीं किया जा सकता है, संदर्भ से हटकर या उससे अलग नहीं पढ़ा जा सकता। वास्तव में, न्यायालय ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया था कि अन्वेषण में की गई त्रुटि या अवैधता कितनी ही गंभीर क्यों न हो, उसका सीधा प्रभाव संज्ञान या विचारण से सम्बन्धित सक्षमता या प्रक्रिया पर नहीं पड़ता है। न्यायालय ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190, 193 और 195 से लेकर 199 तक की युक्ति की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि : 'धारा 190 की भाषा एक ही शीर्षक के अधीन वाले समूह की अन्य धाराओं अर्थात् धारा 193 और 195 से लेकर 199 से स्पष्ट रूप से भिन्न है। बाद वाली ये धाराएं न्यायालय की सक्षमता को विनियमित करती हैं और कतिपय मामलों में अनुपालन को छोड़कर उसकी अधिकारिता को वर्जित करती हैं, किन्तु धारा 190 ऐसा नहीं करती'। न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए अपनी बात समाप्त की कि 'जहां कि किसी मामले का संज्ञान वास्तव में किया जा चुका है और उस मामले की कार्यवाही समाप्त होने वाली है, वहां पूर्ववर्ती अन्वेषण की विधिमान्यता के कारण परिणाम तब तक दूषित नहीं हो जाता है जब तक कि उसके द्वारा न्याय की हत्या न हो गई हो'। इस निर्णय को बहुत ही बारीकी के साथ पढ़ने पर जिसका अपीलार्थी की ओर से बहुत जोर देकर अवलम्ब लिया गया था, हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई बात दिखाई नहीं पड़ती है कि धारा 5क के अधीन अन्वेषण विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारणीय अपराधों का संज्ञान किए जाने की पूर्ववर्ती शर्त है। इसके बाद **मध्य प्रदेश राज्य बनाम मुबारक अली**[1] वाले मामले में किए गए इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया। इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया था कि धारा 5क परेशान और तंग किए जाने के विरुद्ध लोक सेवकों को संरक्षा देने के लिए 1952 वाले अधिनियम में अन्तःस्थापित की गई थी। यदि यह बात लोक हित में थी कि

---

1 [1959] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 201.

1984(2) eILR(PAT) SC 164

भ्रष्टाचार समाप्त किया जाना चाहिए, तो उसी प्रकार से यह बात लोक हित में है कि ईमानदार लोक सेवकों को मिथ्या, तुच्छ और असद्भाविक अभियोगों से मुक्त रहते हुए अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने में समर्थ होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए धारा 5क और 6 में निम्नलिखित रक्षोपाय पुरःस्थापित किए गए थे, (क) अभिहित पुलिस अधिकारी की पंक्ति से नीचे का कोई भी पुलिस अधिकारी भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165 या धारा 165क के अधीन या 1947 वाले अधिनियम की धारा 5क के अधीन दण्डनीय किसी अपराध का प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना अन्वेषण नहीं करेगा और (ख) कोई भी न्यायालय सरकार के अनुमोदन से या पूर्व मंजूरी से करने के सिवाय, इसके पहले प्रगणित अपराधों का संज्ञान नहीं करेगा। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि इन कानूनी रक्षोपायों का अनुपालन अवश्य ही किया जाना चाहिए, क्योंकि वे लोक हित में समझे गए थे और उनका उपबंध तुच्छ या परेशान करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध गारंटी के रूप में किया गया था। इसके आगे न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि विधानमण्डल किसी अधिकारी में सुनिश्चित हैसियत के सन्निहित होने की बात पर विश्वास करने के लिए तैयार था और उसने यह अतिरिक्त गारंटी विहित की कि निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों की दशा में, यथास्थिति, प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट का पूर्व आदेश अपेक्षित हैं। इसके बाद यह महत्वपूर्ण विचार आता है कि 'मजिस्ट्रेट की हैसियत अन्वेषण की सद्भावना के प्रति आश्वासन देती है'। बल्कि इससे यह दर्शित होता कि विधानमण्डल ने, एक ओर अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारियों को लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का अन्वेषण स्वयं करने के लिए शक्ति प्रदत्त की थी, वहीं उसने मजिस्ट्रेट के हस्तक्षेप को वास्तविक रक्षोपाय के रूप में उस समय समझा था जबकि अन्वेषण अभिहित अधिकारियों से निचली पंक्ति के अधिकारियों द्वारा किए जाने की अनुज्ञा दी गई। दूसरे शब्दों में, न्यायालय रक्षोपाय है और उसे ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि न्यायिक रूप से प्रशिक्षित मस्तिष्क किसी भी प्रकार से किसी भी पंक्ति के किसी पुलिस अधिकारी की अपेक्षा अधिक अच्छा रक्षोपाय है। **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **भगवन्त किशोर जोशी**[1] वाले मामले में **मुबारक अली वाले**[2] उपर्युक्त मामले में इस न्यायालय ने जो मत व्यक्त किया था, उसकी अभिपुष्टि की गई। **एस० एन० बोस** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले

[1] [1964] 3 एस० सी० आर० 71.

[2] [1959] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 201.

[3] [1968] 3 एस० सी० आर० 563.

मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी मामले का अन्वेषण करने के लिए पुलिस निरीक्षक को अनुज्ञा देने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश में कोई भी कारण नहीं बताए गए थे और इस प्रकार से उससे धारा 5क का अतिक्रमण हुआ था। फिर भी अन्वेषण के दौरान की गई इस अवैधता का प्रभाव विचारण के लिए न्यायालय की सक्षमता और अधिकारिता पर नहीं पड़ता और जहां कि मामले का संज्ञान वास्तव में किया जा चुका है और वह मामला समाप्त होने वाला है, वहां पूर्ववर्ती अन्वेषण की अविधिमान्यता से परिणाम तब तक दूषित नहीं होता जब तक कि उसके द्वारा न्याय की हत्या न हो गई हो और यह निष्कर्ष निकालने में **एच० एन० रिशबुड एण्ड इन्द्र सेन** बनाम **दिल्ली राज्य**[1] वाले मामले में अवलम्ब लिया गया। **पी० सिराजुद्दीन और अन्य** बनाम **मद्रास राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि 'दण्ड प्रक्रिया संहिता ऐसी अधिनियमिति है जिसका उद्देश्य अन्य बातों के साथ-साथ ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जिसके विरुद्ध आपराधिक अवचार का आरोप लगाया गया हो, किए गए अभिकथनों का उचित रूप से अन्वेषण सुनिश्चित करना है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है लेकिन यह बिल्कुल ही संगत नहीं है। जांच अधिकारी का कुछ मार्गदर्शन किया गया है और उसे अपराधों का अन्वेषण करने में अपनाए जाने वाले कुछ उपाय बताए गए हैं। विचाराधीन विवाद्यक से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। **भारत संघ** बनाम **महेश चन्द्र शर्मा**[3] वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया गया है जिससे इस मामले को कोई भी समर्थन प्राप्त नहीं होता है। पेश की गई दलीलों की रोशनी में इन निर्णयों की सावधानी के साथ परीक्षा करने पर निस्सन्देह जो एकमात्र निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि धारा 5क लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का छोटे या निचले स्तर के पुलिस अधिकारियों द्वारा किए गए अन्वेषण के विरुद्ध रक्षोपाय है। इसका सम्बन्ध विशेष न्यायाधीश के न्यायालय द्वारा अपराधों का संज्ञान करने के ढंग या पद्धति से प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः बिल्कुल नहीं है। आवश्यक परिणाम के रूप में इससे यह अभिप्रेत है कि धारा 5क का उपबन्ध ऐसे विशेष न्यायाधीश द्वारा जो कि धारा 8(क) के अधीन शक्ति अर्जित करता है, धारा 6(1) (क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान किए जाने के पूर्व कार्यवाहियों की पूर्ववर्ती शर्त नहीं है और इसके साथ ही एकमात्र परिसीमा यह है कि उसका संज्ञान मजिस्ट्रेट द्वारा उसकी सुपुर्दगी पर नहीं किया जाएगा।

---

1 [1955] एस० सी० आर० 1150.

2 [1970] 3 एस० सी० आर० 931.

3 ए० आई० आर० 1957 मध्य भारत 43.

22. यदि अपीलार्थी की ओर से प्रस्तुत यह दलील कि धारा 5क के अधीन अन्वेषण विशेष न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाहियाँ आरम्भ करने की पूर्ववर्ती शर्त है और इसी कारण से अपराध का संज्ञान पुलिस रिपोर्ट पर किए जाने के सिवाय नहीं किया जा सकता है, हमें स्वीकार्य नहीं है और विधि की दृष्टि से निराधार है। **टेलर** बनाम **टेलर**[1], **नजीर अहमद** बनाम **किंग एम्परर**[2] वाले मामलों से प्रारम्भ करके और **चेट्टियम विट्टिल अहमद और एक अन्य** बनाम **तालुक लैण्ड बोर्ड और एक अन्य**[3] वाले मामले से समाप्त करते हुए अनेक विनिश्चयों के प्रति निर्देश करना आवश्यक है, जिनमें आज तक यह निर्विवाद्य विधिक सिद्धांत अधिकथित किया गया है कि जहां कोई कानून कोई बात किसी निश्चित रूप से करने की अपेक्षा करता है, वहां वह बात उसी प्रकार से की जानी चाहिए या बिल्कुल ही नहीं की जानी चाहिए। कार्य करने के अन्य ढंग निश्चित रूप से निषिद्ध हैं।

23. यदि धारा 5क विशेष न्यायाधीश द्वारा लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का संज्ञान करने के विषय में संदर्भ से परे है, तो इस एकमात्र परिसीमा सहित आरम्भिक अधिकारिता के न्यायालयों द्वारा अपराधों का संज्ञान करने की ज्ञात पद्धतियों में से किसी एक पद्धति में ऐसे अपराधों का संज्ञान करने की एक ही परिसीमा सहित धारा 8(1) द्वारा विशेष न्यायाधीश को शक्ति अप्रभावित बनी रहती है। इस प्रकार से संज्ञान करने के लिए सक्षम न्यायालय द्वारा अपराधों का संज्ञान करने का एक ऐसा कानूनी मान्य सुपरिचित ढंग ऐसे तथ्यों के बारे में परिवाद प्राप्त करना है जो कि अपराध गठित करता है और धारा 8(1) में यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश को धारा 6(1)(क) और (ख) में प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने की शक्ति है और इस उपबन्ध द्वारा अपवर्जित संज्ञान करने का एकमात्र ढंग सुपुर्दगी करने पर संज्ञान करना है। अतः इससे यह अर्थ निकलता है कि विशेष न्यायाधीश ऐसे अपराध गठित करने वाले तथ्यों के सम्बन्ध में परिवाद प्राप्त होने पर लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का संज्ञान कर सकता है।

24. तथापि यह दलील दी गई कि यदि यह अभिनिर्धारित कर दिया जाए कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद ग्रहण करने का हकदार है, तो भी उसके द्वारा धारा 5क के अधीन अन्वेषण करने का निदेश दिए बिना कोई और

---

[1] (1875-76) 1 चांसरी डिवीजन 426.

[2] ए० आई० आर० 1936 प्रिवी कौंसिल 253 (2).

[3] [1979] 1 एस० सी० आर० 839.

आगे कदम इस प्रकार नहीं उठाए जा सकते कि कहीं धारा 5क का रक्षोपाय कम न हो जाए। यह तो भिन्न आवरण में वहीं एक ही दलील है। ऐसी दलील को स्वीकार करना यह कहने की कोटि में होगा कि परिवाद प्राप्त होने पर विशेष न्यायाधीश को यह चाहिए कि वह धारा 5 के अधीन अन्वेषण के लिए निदेश दे। ऐसे दृष्टिकोण के लिए कोई भी औचित्य नहीं है। जैसा कि आश्चर्यजनक यह बात हमें मालूम हो रही है, सभी निष्ठा के साथ यह दलील दी गई कि वरिष्ठ पुलिस अधिकारी द्वारा किसी अपराध के अन्वेषण से न्यायालय की तुलना में अधिक ठोस रक्षोपाय प्राप्त होता है। जैसा कि निकट से दिखाई पड़ता है, वह इस आधारभूत विश्वास को उलट देगा कि ऐसे व्यक्ति के लिए जिस पर अपराध करने का अभियोग लगाया गया हो, न्यायालय की बनिस्बत कोई भी अधिक अच्छा रक्षोपाय नहीं है और यह बात सांविधानिक रूप से अनुच्छेद 22 में सार रूप में विद्यमान है कि पुलिस द्वारा गिरफ्तार किए जाने पर, गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को गिरफ्तारी के 24 घण्टे के भीतर निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करना होगा। इसके अलावा, दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनेक उपबन्धों से जैसे कि धारा 161, धारा 164 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 से दर्शित होगा कि न्यायालय की दृष्टि से दूर पुलिस अधिकारियों पर विश्वास रखने में विधानमण्डल की हिचकिचाहट थी। और इस तथ्य से ही कि शक्ति इन अपराधों का अन्वेषण करने के लिए निचली पंक्ति के पुलिस अधिकारियों को अनुज्ञा देने के वास्ते प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को प्रदत्त की गई हैं, विधानमण्डल के मस्तिष्क का पता चलता है कि न्यायालय, वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों की बनिस्बत अधिक विश्वसनीय रक्षोपाय है।

25. इस बात पर जोर दिया गया कि 1952 वाले अधिनियम और दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्य उपबन्धों में ऐसा अन्तर्निहित साक्ष्य मौजूद है, जो कि इस दलील की पुष्टि करता है कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद के आधार पर संज्ञान नहीं कर सकता है। यदि धारा 8 (1) विचारण के लिए अभियुक्त को सुपुर्द करने की आवश्यकता के बिना अपराधों का संज्ञान करने की विनिर्दिष्ट शक्ति प्रदत्त करती है और मजिस्ट्रेटों द्वारा वारंट के मामलों के विचारण के लिए विशेष न्यायाधीश द्वारा अपनाई जानी वाली प्रक्रिया विहित करती है, तो भी परिशुद्धता के साथ यह अवधारित करना आवश्यक है कि क्या विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट है या सेशन न्यायाधीश। धारा 8 (3) के प्रति निर्देश करने के बाद, जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि उपधारा (1) या उपधारा (2) में यथा-उपबन्धित के सिवाय दण्ड प्रक्रिया संहिता के उपबन्ध,

वहां तक जहां तक कि वे 1952 वाले अधिनियम से असंगत नहीं हैं, विशेष न्यायाधीश के समक्ष वाली कार्यवाहियों को लागू होंगे; और उक्त उपबन्धों के प्रयोजनों के लिए विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के बारे में यह समझा जाएगा कि वह जूरी के बिना या असेसरों की सहायता के बिना मामलों का विचारण करने वाला सेशन न्यायालय है और विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन का संचालन करने वाले व्यक्ति के बारे में यह समझा जाएगा कि वह लोक अभियोजक है; इस बात पर जोर दिया गया कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष मामले के विचारण में उसके द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया के प्रयोजन के लिए, वह, जैसा कि धारा 8 (1) में उपबन्ध किया गया है, मजिस्ट्रेट है, न कि सेशन न्यायाधीश, क्योंकि कोई भी सेशन न्यायालय सुपुर्दगी के बिना अपराधों का संज्ञान नहीं कर सकता, जबकि विशेष न्यायाधीश को विचारण के लिए अभियुक्त को उसके समक्ष सुपुर्द किए बिना अपराधों का संज्ञान करना पड़ता है, फिर भी उपधारा (2) और (3) के उपबन्धों से इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता है कि सभी प्रयोजनों के लिए सेशन न्यायाधीश या सेशन न्यायालय के रूप में मानना होता है। इस प्रकार विचार व्यक्त करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि यदि विशेष न्यायाधीश के वही लक्षण हैं जो कि सेशन न्यायालय के होते हैं, तो वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 में यथा-उपबन्धित संज्ञान नहीं करता क्योंकि वह मजिस्ट्रेट को किसी अपराध का संज्ञान करने के लिए उसमें विहित तीन ढंगों में से एक में करने की शक्ति प्रदत्त करती है। अतः यह दलील दी गई कि प्राइवेट परिवाद ग्रहण नहीं किया जा सकता।

26. एक से अधिक कारणों से इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है। यदि धारा 190 का लाभ नहीं उठाया जा सकता है, तो हम यह समझने में असमर्थ हैं कि विशेष न्यायाधीश किस प्रकार पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संज्ञान करने का हकदार होगा। यदि धारा 190 लागू नहीं होती है, तो अपराधों का संज्ञान करने के सभी तीनों ढंग उपलभ्य नहीं होंगे। कोई भी व्यक्ति अपनी ही सुविधा के अनुसार और इच्छा से जैसा चाहे वैसा नहीं कर सकता। या तो सभी तीनों ढंग उपलब्ध हैं या उनमें से कोई भी नहीं। धारा 8 (1) से जो कि संज्ञान करने की शक्ति प्रदत्त करती है, कोई भी अधिमानता प्रकट नहीं होती। इस संक्षिप्त आधार पर यह दलील अवश्य ही नामंजूर कर दी जानी चाहिए।

27. तथापि यह आवश्यक है कि विशेष न्यायाधीश और उस न्यायालय की स्थिति के बारे में जिसकी वह अध्यक्षता करता है और जिसे विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के रूप में जाना जाता है, निश्चितार्थता और परिशुद्धता के साथ

विनिश्चय किया जाए, क्योंकि उसे मजिस्ट्रेटों के साथ या सेशन न्यायालय के साथ समान ठहराने के परिणामस्वरूप अनन्त गड़बड़ियां उत्पन्न हो गई हैं। भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 रिश्वत और भ्रष्टाचार के अधिक प्रभावी निवारण के लिए अधिनियमित किया गया था। समय व्यतीत होता गया और प्राप्त अनुभव से यह दर्शित होता रहा कि जब तक 1947 वाले अधिनियम में यथा-प्रगणित, ऐसे अपराधों के विचारण के लिए विशेष न्यायालय की सृष्टि नहीं कर दी जाती है, तब तक 1947 वाले अधिनियम में अन्तर्निहित उद्देश्य स्वप्न मात्र बना रहेगा। इसके परिणामस्वरूप दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 अधिनियमित किया गया। उद्देश्यों और कारणों के कथन में जो कि विधेयक के साथ संलग्न होता है, समिति की सिफारिशों के प्रति निर्देश किया गया है जिसकी अध्यक्षता डा० बख्शी टेक चन्द ने की थी और जिसकी नियुक्ति विशेष पुलिस स्थापन के कार्यकरण का पुनर्विलोकन करने के लिए और रिश्वत तथा भ्रष्टाचार से सम्बन्धित विधियों में सुधार लाने के लिए सिफारिशें करने के लिए की गई थी। मजिस्ट्रेट द्वारा विचार किए जाने वाले मामलों के ब्यूह में से भ्रष्टाचार के मामले को बाहर निकालने की दृष्टि से विशेष न्यायालयों को स्थापित करने का विनिश्चय किया गया। धारा 6 ने राज्य सरकार को इस बात की शक्ति प्रदत्त की कि वह उतने विशेष न्यायाधीश नियुक्त कर सकेगी जितने कि खण्ड (क) और (ख) में उपवर्णित अपराधों का विचारण करने के लिए शक्ति सहित आवश्यक हों। यदि इस प्रक्रम में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 के प्रति निर्देश किया जाता है जिसमें दण्ड न्यायालयों के गठन के लिए उपबन्ध किया गया है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि नए नाम से नया न्यायालय स्थापित किया जा रहा है और वह उच्च न्यायालय के प्रशासनिक और न्यायिक अधीक्षण के अधीन होगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चार प्रकार के दण्ड न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन कार्य कर रहे थे। उस सूची में विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को जोड़ दिया गया। जबकि ऐसा नवीन न्यायालय जो कि निर्विवाद्य रूप से दण्ड न्यायालय है, क्योंकि इसके बारे में तनिक भी सन्देह उत्पन्न नहीं किया गया कि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय दण्ड न्यायालय नहीं है, स्थापित किया जाता है, तो उसे प्रभावी और कृत्योन्मुख बनाने के लिए उसकी शक्तियां, प्रक्रिया हैसियत और सभी आनुषंगिक उपबन्धों को विहित करना आवश्यक हो जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि सार्वजनिक जीवन में उच्च-पदस्थ लोगों का विचारण ऐसे न्यायालय द्वारा किया जाना संभाव्य होता है, विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को स्थापित करते समय विहित अर्हता यह थी कि विशेष न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने वाले

व्यक्ति को या तो सेशन न्यायाधीश होना चाहिए या अपर सेशन न्यायाधीश सहायक सेशन न्यायाधीश होना चाहिए। ये तीनों ही उच्च पदाधिकारी मजिस्ट्रेट के स्तर से ऊँचे होते हैं। अर्हता विहित करने के बाद विधानमण्डल ने अपराधों का जिनके विचारण के लिए अनन्य अधिकारिता सहित विशेष न्यायालय स्थापित किया गया था, संज्ञान करने के लिए विशेष न्यायाधीश को शक्ति प्रदत्त की। यदि विशेष न्यायाधीश को अपराधों का संज्ञान करना होता है, तो वस्तुतः ऐसे अपराधों के विचारण के लिए जो प्रक्रिया होती है, उसे विहित करना पड़ता है। संहिता में विभिन्न न्यायालयों द्वारा मामलों के विचारण के लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं विहित की गई हैं। सेशन न्यायालय के समक्ष किसी मामले के विचारण की प्रक्रिया अध्याय 18 में उपवर्णित है ; मजिस्ट्रेटों द्वारा वारंट मामलों के विचारण के लिए अध्याय 19 में उपवर्णित हैं और उसमें जो उपबन्ध शामिल किए गए हैं, उनमें मजिस्ट्रेट के समक्ष आने वाले अर्थात् पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट के आधार से भिन्न आधार पर पेश किए गए दोनों प्रकार के मामलों के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। अध्याय 20 में मजिस्ट्रेटों द्वारा समन मामले के विचारण के लिए प्रक्रिया विहित की गई है और अध्याय 21 में संक्षिप्त विचारण के लिए प्रक्रिया विहित की गई है। चूँकि नवीन दण्ड न्यायालय स्थापित किया जा रहा है, इसलिए विधानमण्डल ने सेशन न्यायालय से न्यूनाधिक रूप से तुलनीय स्तर पर उसे लाकर दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 के अधीन न्यायालयों के सोपान में तुलनात्मक स्थिति की व्यवस्था करने का पहला कदम उठाया था, किन्तु स्तर के आधार पर तुलना करने के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न किसी भी गड़बड़ी से बचने की दृष्टि से धारा 8 (1) में यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि वह सेशन न्यायालय नहीं है, क्योंकि वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 193 द्वारा यथा-अनुध्यात सुपुर्दगी के बिना अपराधों का संज्ञान कर सकता है। निस्सन्देह धारा 8 (3) में स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया गया है कि धारा 8 की उपधारा (1) और (2) के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के बारे में यह समझा जाएगा कि वह जूरी के बिना या असेसर की सहायता के बिना मामले का विचारण करने वाला सेशन न्यायालय है। सेशन न्यायालय से बिल्कुल ही भिन्न इस नवीन न्यायालय को आरंभिक अधिकारिता वाला न्यायालय होना था। उसके बाद विधानमण्डल ने वह बात विनिर्दिष्ट की जिसका संहिता में उपवर्णित विभिन्न प्रक्रियाओं में से किसका अनुसरण यह न्यायालय अपने समक्ष वाले अपराधों के विचारण के लिए करेगा। धारा 8 (1) में विनिर्दिष्ट रूप से यह कहा गया है कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष वाले अपराधों के विचारण में वह न्यायाधीश मजिस्ट्रेटों द्वारा वारंट

मामले के विचारण के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता में विहित प्रक्रिया का अनुसरण करेगा। मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामले के विचारण के लिए जो उपबन्ध हैं, वे 1898 वाली संहिता के अध्याय 21 में मौजूद हैं। इन उपबन्धों को सरसरी तौर से देखने से यह पता चलेगा कि उनमें से जो उपबन्ध शामिल किए गए हैं इनमें दोनों स्थितियों के लिए अर्थात् पुलिस रिपोर्ट के आधार पर (धारा 251क) और पुलिस रिपोर्ट से भिन्न रूप में संस्थित मामले के विचारण के लिए (धारा 252 से 257) व्यवस्था की गई है। यदि विशेष न्यायाधीश को पूर्वगामी उपबन्धों में विहित प्रक्रिया के अनुसार मामले का विचारण करने का कार्य व्यादिष्ट किया जाता है, तो उसे पहले यह विनिश्चित करना होगा कि क्या वह मामला पुलिस रिपोर्ट या पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संक्षिप्त किया गया था, और उसे उन धाराओं के सुसंगत समूह में दी गई प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। 1898 वाली संहिता की धारा 251 (क) से लेकर 257 तक की, जो कि 1973 वाली संहिता की धारा 238 से लेकर 250 के तात्विक रूप से समान हैं, प्रत्येक धारा इस बात के प्रति निर्देश करती है कि मजिस्ट्रेट को क्या करना चाहिए। अतः क्या विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट हो जाता है? सम्पूर्ण दृष्टिकोण में यही गलती हैं। वास्तव में धारा 8 (1) को पूरी तरह से प्रभावी बनाने की दृष्टि से जो एक बात करनी है, वह धारा 278 से लेकर 250 में जहां कहीं भी मजिस्ट्रेट शब्द आया हुआ है, उसके स्थान पर 'विशेष न्यायाधीश' अभिव्यक्ति का पढ़ना है। यह समावेशन द्वारा विधायन कहलाता है। उसी प्रकार से जहां संज्ञान करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, वहां इस तथ्य की खोज करना व्यर्थ है कि क्या धारा 190 के प्रयोजनों के लिए जो कि अपराध का संज्ञान करने की शक्ति मजिस्ट्रेट को प्रदत्त करती है, विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट है? जो बात की जानी है, वह यह है कि 'मजिस्ट्रेट' के स्थान पर 'विशेष न्यायाधीश' अभिव्यक्ति का पढ़ना है और इससे सम्पूर्ण बात बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है। जहां कहीं भी विधानमण्डल को सन्देह हुआ, उसने विनिर्दिष्ट उपबन्ध करके उसे स्पष्ट कर दिया, जैसा कि धारा 8 की उपधारा (2) में उपबन्ध करके किया गया था और किसी व्यक्ति को सन्देह से दूर रखने की दृष्टि से उसने उपधारा (3) में और आगे यह उपबन्ध किया कि जहां तक कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के सभी उपबन्ध अधिनियम से असंगत नहीं है, वहां तक वे विशेष न्यायाधीश के समक्ष वाली कार्यवाहियों को लागू होंगे। उस समय जब कि 1952 वाला अधिनियम अधिनियमित किया गया था, जो बात प्रवर्तन में थी वह दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 थी। उसमें विशेष न्यायाधीश के किसी न्यायालय के सम्बन्ध में परिकल्पना नहीं की गई थी और विधानमण्डल कभी-

कभी इस नवीन दण्ड न्यायालय के लिए जो कि स्थापित किया जा रहा था, सर्वागींण प्रक्रिया संहिता कभी भी अधिनियमित नहीं करना चाहता था। अत: उसने (अपराधों का संज्ञान करते हुए) शक्ति प्रदत्त की (मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामलों के विचारण की) प्रक्रिया विहित की, क्षमा देने का प्राधिकार उपदर्शित किया (धारा 338) और उसके बाद उसकी हैसियत की घोषणा इस प्रकार करते हुए कि उसकी तुलना सेशन न्यायालय से की जा सकती है, उसने यह विहित किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के सभी उपबन्ध वहां तक जहां तक वे 1952 वाले अधिनियम के उपबन्धों से असंगत नहीं है, लागू होंगे। इस स्थिति का अन्तिम परिणाम यह है कि आरंभिक अधिकारिता का नवीन न्यायालय स्थापित किया गया और जब कभी भी प्रश्न इस सम्ब्रन्ध में उत्पन्न हुआ कि ऐसे विनिर्दिष्ट प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी शक्तियां क्या हैं जो कि उसके समक्ष आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में पेश किए गए हों, उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रति किसी भी दिखावटी पदाभिदान से बाधित हुए बिना निर्देश करना होगा। संज्ञान करते हुए विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को धारा 190 के अधीन वाली शक्तियां प्राप्त होती है। जबकि वह मामले का विचारण कर रहा हो तो उसके लिए मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामलों के विचारण की प्रक्रिया का अनुसरण करना बाध्यकारी है, यद्यपि हैसियत के तौर पर उसकी समानता सेशन न्यायालय से की गई थी। विनिर्दिष्ट रूप से हमारे द्वारा यह बात विनिश्चित किए जाने के लिए कि क्या विशेष न्यायाधीश का न्यायालय कतिपय प्रयोजन के लिए मजिस्ट्रेट का न्यायालय या सेशन न्यायालय है, दी गई सम्पूर्ण दलील इस गलत विश्वास के चारों ओर केन्द्रित है कि विशेष न्यायाधीश को मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायाधीश होना ही चाहिए और उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय के ढांचे में अवश्य ही फिट होना चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण से न्यायालय के कार्यकरण में बाधा उत्पन्न होगी और इस बात से बचना चाहिए। सभी अलंकरणों से रहित विशेष न्याया-धीश का न्यायालय आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता का न्यायालय है। आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में उसे कृत्योन्मुख होने की दृष्टि से कानून द्वारा न्यायालय की स्थापना करते हुए कुछ शक्तियां प्रदत्त की गई थीं। उन शक्तियों को छोड़कर जो कि या तो विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त की गई थीं और विनिर्दिष्ट रूप से उनसे वंचित कर दिया गया था, उसे आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में कार्य करना पड़ता है और उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय के पदाभिदान के साथ कठोरता के साथ बंधे नहीं रहना होता। संहिता के अधीन उन शक्तियों के सिवाय जिनसे कि वह विनिर्दिष्ट रूप से वंचित किया गया हो उसे ऐसी सभी शक्तियां प्राप्त होंगी जो कि आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालयों को प्राप्त होती हैं।

28. 1952 वाले अधिनियम की धारा 9 उसी प्रकार से इस सम्बन्ध में सहायक होगी। यदि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता का न्यायालय है, तो यह उपबन्ध करना आवश्यक हो जाता है कि क्या वह उच्च न्यायालय का अधीनस्थ है, क्या उसके निर्णयों और आदेशों के विरुद्ध अपील और पुनरीक्षण उच्च न्यायालय में किया जाएगा और क्या उच्च न्यायालय विशेष न्यायाधीश के न्यायालय का साधारण रूप से अधीक्षण करेगा जैसा कि वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 में प्रगणित सभी दण्ड न्यायालयों का करता है। यदि किसी स्वतन्त्र कानून द्वारा विशेष न्यायाधीश का न्यायालय सृष्ट कर दिया गया हो, तो वह उच्च न्यायालय के अधीन आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में लाया गया है क्योंकि धारा 9 उच्च न्यायालय को ऐसी सभी शक्तियां प्रदत्त करती है जो कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 के अध्याय 31 और 33 द्वारा उच्च न्यायालय को प्रदत्त की गई हों मानो कि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय ऐसा सेशन न्यायालय हो जो कि उच्च न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर जूरी के बिना मामलों का विचारण कर रहा हो। अतः इस तथ्य का खण्डन नहीं किया जा सकता कि ऐसा नवीन दण्ड न्यायालय जिसके अधिकारी का जो कि उसका अध्यक्ष होने का पात्र हो और जिसे ऐसी विनिर्दिष्ट शक्तियां प्राप्त हों तथा जो ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करता हो, नाम पदाभिदान और अर्हता दी गई हो, 1952 वाले अधिनियम के अधीन स्थापित किया गया है। न्यायालय को आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में मानना पड़ता है और उसे ऐसी सभी शक्तियां प्राप्त होंगी जो कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता वाले किसी न्यायालय को प्राप्त होती हैं किन्तु उन शक्तियों को छोड़कर जो कि विनिर्दिष्ट रूप से अपवर्जित की गई हैं।

29. यदि उच्च न्यायालय के अधीन दण्ड न्यायालयों के सोपान में विशेष न्यायाधीश के न्यायालय की स्थिति और शक्ति स्पष्ट रूप से और असंदिग्ध रूप से स्थापित कर दी जाती है, तो ऐसी जांच करनी अनावश्यक है जिसमें प्रत्येक ऐसे मामले के सम्बन्ध में अधिकथित अनेक विनिश्चयों की परीक्षा की जाए अर्थात् यह कि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय सेशन न्यायालय है और इसके विपरीत किन्हीं अन्य विनिश्चयों में जो मत अपनाया गया है, उसकी भी जांच करनी अनावश्यक है। उन निर्णयों के प्रति निर्देश से कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना इस निर्णय की लम्बाई मात्र बढ़ेगी।

30. यह दलील दी गई की इसके अलावा इस दिशा की ओर संकेत करते हुए अतिरिक्त साक्ष्य मौजूद है कि विशेष न्यायाधीश प्राइवेट परिवाद

ग्रहण नहीं कर सकता। अध्याय 28 में आई हुई धारा 225 में, जिसमें सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण की प्रक्रिया विहित करने वाले उपबन्ध दिए गए हैं, यह उपबन्ध किया गया है कि "सेशन न्यायालय के समक्ष प्रत्येक विचारण में अभियोजन का संचालन लोक अभियोजक द्वारा किया जाएगा।" 1952 वाले अधिनियम की धारा 8 (3) के अन्तिम भाग में यह उपबंध किया गया है ······कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन का संचालन करने वाले व्यक्ति को लोक अभियोजन समझा जाएगा। इस बात पर जोर दिया गया कि लोक अभियोजन मामूली तौर से राज्य के नाम किए जाते हैं, क्योंकि गम्भीर अपराधों के मामलों में समाज ऐसे समाज-विरोधी तत्वों को दण्डित करने में हितबद्ध रहते हैं जो कि समाज के लिए खतरा हो सकते हैं और यह कि ऐसा अभियोजन निजी शत्रुता या प्रतिशोध की भावना की तुष्टि करने के लिए नहीं होता। और आगे मत व्यक्त करते हुए यह कहा गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की युक्ति से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि गम्भीर अपराध सेशन न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय होते हैं और यह कि यदि सेशन न्यायालय को सुपुर्दगी प्राइवेट परिवाद के आधार पर अपराध का संज्ञान करने वाले मजिस्ट्रेट द्वारा की गई जांच के आधार पर की जाती है, तो सेशन न्यायालय को वह मामला सुपुर्द किए जाने पर प्राइवेट परिवादी की भूमिका महत्वहीन हो जाती हैं। राज्य अभियोजन को अपने हाथ में ले लेता है और लोक अभियोजन निश्चित रूप से अभियोजन का भारसाधक हो जाता है। और यह भी मत व्यक्त किया गया कि केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार लोक अभियोजक की नियुक्ति करती है। इस बात पर जोर दिया गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 24 के अधीन लोक अभियोजक की नियुक्ति ऐसा सत्यनिष्ठ कर्तव्य है जो कि यथा स्थिति केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार और वह भी उच्च न्यायालय के परामर्श से, करती है और यही लोक अभियोजक सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण कर संचालन करने का हकदार होता है। लोक अभियोजक की भूमिका, गरिमा और उत्तरदायित्व को समझने की दृष्टि से हमारा ध्यान **इवे प्रू** बनाम **दि किंग**[1], **अमलेश चन्द्र और अन्य** बनाम **राज्य**[2], **राज किशोर रवि दास** बनाम **राज्य**[3], **भूपल्ली मल्लिया और अन्य वाला मामला**[4], **मेडिचेट्टी राम किश्तिया** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[5] वाले मामलों के प्रति आकृष्ट किया गया। इन

---

1 ए० आई० आर० 1941 रंगून 209.

2 ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 481.

3 ए० आई० आर० 1969 कलकत्ता 321.

4 ए० आई० आर० 1959 आन्ध्र प्रदेश 477.

5 ए० आई० आर० 1959 आन्ध्र प्रदेश 659.

1984(2) eILR(PAT) SC 164

विनिश्चयों का तात्पर्य उस वस्तुपरकता और न्यायौचित्य को उपदर्शित करना है जिससे कि मामले का भारसाधक लोक अभियोजक अभियोजन का संचालन करेगा और उसके कर्तव्य का यह कोई भाग नहीं है कि वह किसी भी कीमत पर दोषसिद्धि करने की कोशिश करे। उसका कर्तव्य अभियुक्त के पक्ष में और विरुद्ध साक्ष्य का उचित रूप से विश्लेषण करना है और यह कि उसे किसी ऐसे साक्ष्य को रोकना नहीं चाहिए जिसका सम्बन्ध न्यायालय के समक्ष वाले विवाद्यकों से है। अन्य शब्दों में, उसे न्याय करने की इच्छा से ही विवाद्य मामले के प्रति अपने दृष्टिकोण में न्यायप्रिय और वस्तुपरक होना चाहिए। इस बात पर जोर दिया गया कि यदि लोक अभियोजकों की यही सुमान्य भूमिका हो, तो यह बात कितनी लोमहर्षक प्रतीत होगी यदि अभियुक्त के विरुद्ध प्रतिशोध लेने की भावना से प्रेरित होकर प्राइवेट परिवादी को लोक अभियोजक समझा जाता है। यह बात कही गई कि ऐसे प्राइवेट परिवादी को लोक अभियोजक की हैसियत प्रदान नहीं की जा सकती। किन्तु धारा 8 (3) के बाद वाले भाग में अधिनियमित धारणात्मक कल्पना लोक अभियोजक की ऐसी हैसियत से लैस करती है जिसका लाभ उठाने के लिए वह अर्हित नहीं होता। इस बात के अतिरिक्त यह बात कही गई कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 साधारण रूप से उसमें विहित परिसीमाओं के अध्यधीन रहते हुए अभियोजन की कार्यवाही वापस लेने के लिए लोक अभियोजक को शक्ति प्रदत्त करती है। दलील यह है कि यदि प्राइवेट परिवादी जो कि अपने मामले का संचालन करना चाहता है और उसके द्वारा समझे गए लोक अभियोजक की हैसियत प्राप्त कर लेता है, तो वह कतिपय तुच्छ अभियोजन की कार्यवाही आरम्भ करके न्याय को लांछित करने में समर्थ होगा और उसके बाद यदि उसकी हथेली गर्म कर दी जाती है तो वह मामले को वापस ले लेगा। यह बात कही गई कि अभियुक्त झूठा परिवादी सामने पेश कर सकता है और विचारण करने का बहाना कर सकता है तथा उच्च स्तर वाले अन्वेषण के आधार पर गम्भीर अभियोजन से बच सकता है। यह व्यर्थ की कल्पनाएं हैं जो कि कानून में किसी उपबन्ध के अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए असंगत हैं। इसके अतिरिक्त यह दलील इस महत्वपूर्ण भूमिका को भी नजरअन्दाज़ करती है कि न्यायालय को लोक अभियोजक के कहने पर किसी अभियोजन को वापस लेने से पूर्व न्यायालय को निभानी होती है। इस बात से कि लोक अभियोजक अपने पद का दुरुपयोग कर सकता है, इसका अवधारण नहीं होता कि किसे लोक अभियोजक होना चाहिए। धारा 8 (3) में अधिनियमित धारणात्मक कल्पना उसकी अपेक्षाओं की सीमाओं तक ही सीमित है क्योंकि विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन की कार्यवाही का संचालन

करने वाला व्यक्ति लोक अभियोजक समझा जाता है। वास्तव में धारा 8 (3) द्वारा सृष्ट इस कल्पना से अपीलार्थी की यह दलील बिल्कुल अस्वीकृत हो जाएगी कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है क्योंकि विधानमंडल धारा 225 के सदृश उपबन्ध अन्तःस्थापित कर सकता था कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन का संचालन लोक अभियोजक द्वारा किया जाएगा। इसके विपरीत इस स्थिति से अवगत होते हुए कि प्राइवेट परिवाद ऐसे विशेष न्यायाधीश के समक्ष फाइल किया जा सकेगा जो कि ऐसे परिवाद के आधार पर अपराधों का संज्ञान कर सकता हैं। विधानमंडल विशेष न्यायाधीश के समक्ष अभियोजन के भारसाधक व्यक्ति को दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रयोजनों के लिए लोक अभियोजक की हैसियत प्रदान करना चाहता था। यह ऐसा अतिरिक्त कारण है जिससे कि अपीलार्थी की यह दलील कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है, ग्रहण नहीं किया जा सकता।

31. इसके बाद यह दलील दी गई कि यदि 1952 वाले अधिनियम में अन्तर्निहित उद्देश्य लोक सेवक द्वारा भ्रष्टाचार के अपराधों का अधिक शीघ्रता से विचारण करने के लिए उपबन्ध करना था, तो इस प्रशंसनीय उद्देश्य में उस दशा में बाधा उत्पन्न हो जाएगी, यदि कभी यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि प्राइवेट परिवाद विशेष न्यायाधीश ग्रहण कर सकता है। इसी दलील को और आगे बढ़ाते हुएं यह कहा गया कि यह उपधारणा करते हुए कि प्राइवेट परिवाद संज्ञान करने के पूर्व ग्रहण किया जा सकता है, विशेष न्यायाधीश को परिवादी की परीक्षा करनी होगी और जैसा कि धारा 200 द्वारा व्यादिष्ट है, सभी साक्षियों को उपस्थित रहना होगा। उसके बाद न्यायाधीश को मामूली तौर से अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका निकालने का कार्य मुल्तवी करना होगा और या तो स्वयं ही उस मामले की जांच करेगा या पुलिस अधिकारी उसकी जांच करेगा और 1947 वाले अधिनियम के अधीन वाले मामलों में यह विनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए क्या कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं या नहीं, अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारियों द्वारा 1947 वाले अधिनियम के अधीन वाले मामलों में पुलिस अधिकारियों द्वारा अन्वेषण किए जाने का निदेश देगा [धारा 202 (1) देखिए]। यदि न्यायाधीश स्वयं ही जांच आरंभ करना चाहता है, तो वह ऐसा शपथ के आधार पर साक्ष्य लेने के लिए बाध्य है। किन्तु यह बात कही गई कि यदि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय सेशन न्यायालय है, तो यह मामला दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 की उपधारा (2) के परन्तुक द्वारा शासित होगा और इसी

कारण से वह परिवादी से यह अपेक्षा करेगा कि पश्चात्कथित अपने सभी साक्षी पेश करे और शपथ के आधार पर उनकी परीक्षा करे। आशंका यह व्यक्त की गई कि इसके परिणामस्वरूप शीघ्रता के साथ किए जाने वाले विचारण में निश्चित रूप से बाधा उत्पन्न होगी और इसी कारण से यह बात कही गई कि ऐसा आन्तरिक विरोधी संकेत मौजूद है कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है। हमें इस दलील में कोई भी सार दिखाई नहीं पड़ता। जैसा कि पहले बहुत ही स्पष्ट कर दिया गया है, कि विशेष न्यायाधीश का न्यायालय आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता वाला न्यायालय है और यह कि वह इसके पहले उपदर्शित रीति से अपराध का संज्ञान कर सकता है, यह हो सकता है कि इस बात की परीक्षा करने में कि क्या उस परिवाद से गम्भीर अपराध का पता चलता है या यह कि उसमें कोई तुच्छ बात अन्तर्वलित है, तो न्यायाधीश आदेशिका निकालने के कार्य को मुल्तवी करके जांच करने पर जोर दे सकता है। जबकि प्राइवेट परिवाद फाइल किया जाता है, तो न्यायालय को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 के परन्तुक में उपवर्णित मामलों को छोड़कर शपथ के आधार पर परिवादी की परीक्षा करनी होती है। शपथ के आधार पर परिवादी की परीक्षा करने के बाद और उपस्थित साक्षियों की परीक्षा करने के बाद, यदि कोई हो तो, जिससे कि यह अभिप्रेत है कि जो साक्षी उपस्थित नहीं हैं, उनकी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, न्यायालय को यह अधिकार होगा कि वह न्यायिक रूप से इस बात का अवधारण करे कि क्या आदेशिका निकालने के लिए मामला बन गया है। जबकि यह कहा जाता है कि न्यायालय ने आदेशिका निकाली है, तो उससे यह अभिप्रेत है कि न्यायालय ने अपराध का संज्ञान कर लिया है और कार्यवाही आरम्भ करने का विनिश्चय कर लिया है और जैसा कि संज्ञान करने की बात से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, आदेशिका निकाली जाती है जिससे यह अभिप्रेत है कि अभियुक्त से यह अपेक्षा की जाती है कि वह न्यायालय के समक्ष हाजिर हो। यह बात या तो यथास्थिति समन का या वारन्ट का रूप ले सकती है। यह हो सकता है कि परिवादी और उसके साक्षियों की परीक्षा करने के बाद, न्यायालय स्वयं ही पूरी तरह से आश्वस्त होने की दृष्टि से आदेशिका निकालने के कार्य को मुल्तवी कर सकता है और परिवादी से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह अपने साक्षियों को उपस्थित करे। न्यायालय को जो दूसरा विकल्प प्राप्त है, वह पुलिस अधिकारी द्वारा जांच किए जाने के लिए निदेश देना है। और यदि अपराध ऐसा है जो कि 1947 वाले अधिनियम की परिधि के भीतर आता है, तो, यदि निदेश दिया जाए, अन्वेषण धारा 5क में अन्तर्विष्ट उपबन्ध के अनुसार होगा। किन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी जानी

1984(2) eILR(PAT) SC 164

चाहिए कि आदेशिका निकालने के पूर्व जांच करना या पुलिस द्वारा अपराध के अन्वेषण के लिए निदेश देना बाध्यकारी नहीं है। वह मामला न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार पर निर्भर होता है और वह न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय होता है जो कि धारा 200 के अधीन दिए जाने वाले शपथ लेकर किए गए परिवादी के कथन में, जो कि दण्ड न्यायालयों की भाषा में परिवादी का सत्यापन और साक्षियों का, यदि कोई हों तो, साक्ष्य कहलाता है, उसके द्वारा प्रकट की गई सामग्री पर निर्भर होता है। तथापि, इस बात पर जोर दिया गया कि यदि धारा 5 क का सहारा यह अभिनिर्धारित करते समय नहीं लिया जा सकता कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य है, तो कम से कम न्यायालय को चाहिए कि वह ऐसे सभी साक्षियों की, जिनकी परिवादी परीक्षा करना चाहता है, परीक्षा करने पर जोर देकर पूर्व प्रक्रिया रक्षोपाय को सुनिश्चित करे और इस बात से वहां तक जहां तक कि शीघ्रता के साथ विचारण करने के उद्देश्य का सम्बन्ध है, प्रतिकूल परिणाम निकलेगा। किसी भी दृष्टिकोण से यदि इसे देखा जाए, तो इस दलील में कोई भी सार नहीं है। मुख्यतः विशेष न्यायाधीश द्वारा पूर्व आदेशिका प्रक्रम में भी साक्षियों की परीक्षा इस आधार पर नहीं होती है कि वह मामला अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा उस प्रकार विचारणीय है जिस प्रकार कि धारा 202 के परन्तुक द्वारा अनुध्यात है। (अभियुक्त की) कोई सुपुर्दगी नहीं हुई है और इस कारण से धारा 202 का परन्तुक लागू नहीं होता। उसी प्रकार से जब तक आदेशिका न निकाल दी जाए, अभियुक्त के हाजिर होने के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह शारीरिक रूप से हाजिर हो सकता है, किन्तु कार्यवाही में भाग लेने का हकदार नहीं होता है। **श्रीमती नागव्वा** बनाम **वीरन्ना शिवलिंगप्पा कोनजलगी और अन्य**[1] वाला मामला देखिए। परिवाद प्राप्त होने पर और न्यायालय द्वारा सत्यापन अभिलिखित किए जाने पर न्यायालय को यह अधिकार होता है कि वह प्रकट किए गए तथ्यों पर अपने मस्तिष्क का प्रयोग करे और न्यायिक रूप से यह अवधारण करे कि क्या आदेशिका निकाली जानी चाहिए या नहीं। आदेशिका निकालने के लिए यह पूर्ववर्ती शर्त नहीं है कि न्यायालय को निश्चित रूप से धारा 202 द्वारा यथा परिकल्पित जांच अवश्य ही करनी चाहिए या जैसा कि उसमें अनुध्यात है, अन्वेषण के लिए अवश्य ही निदेश देना चाहिए। जांच किए बिना या अन्वेषण किए बिना, संज्ञान करने की शक्ति धारा 202 में विवक्षित है जबकि उसमें यह कहा गया है कि यदि मजिस्ट्रेट ठीक समझता है तो अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका जारी किया जाना मुल्तवी कर सकता है और यह

---

1 [1977] 2 उम० नि० प० 730=(1976) 3 एस० सी० सी० 736.

विनिश्चत करने के प्रयोजन से कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं, अथवा नहीं या तो स्वयं ही मामले की जांच कर सकता है या किसी पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण किए जाने का निदेश दे सकता है। अतः मामला न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार पर छोड़ दिया जाता है कि क्या परिवादी और उसके साक्षियों की परीक्षा करने के बाद, यदि कोई हो, तो, जैसा कि धारा 202 द्वारा अनुध्यात है, आदेशिका निकाली जाए या आदेशिका जारी करने की बात मुल्तवी की जाए। यह विवेकाधिकार जो कि न्यायालय को प्राप्त है, या तो जांच करने की बात को या अन्वेषण करने का निदेश देने की बात को न्यायालय के लिए आज्ञापक बनाकर न तो सीमित किया जा सकता है और न ही उससे वंचित किया जा सकता है । ऐसा दृष्टिकोण कानूनी उपबन्ध के प्रतिकूल होगा । अतः इस दलील में कोई भी सार नहीं है कि प्राइवेट परिवाद ग्रहण करके शीघ्रता से विचारण करने के प्रयोजन में बाधा उत्पन्न होगी या यह कि पूर्व-आदेशिका सम्बन्धी रक्षोपाय से वंचित होना पड़ेगा।

32. इसके अलावा, जबकि प्राइवेट परिवाद आधार पर संज्ञान किया जाता है या यदि इसी बात को अधिक निश्चितार्थता के साथ कहा जाए, जब पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संज्ञान किया जाता है, तो विशेष न्यायाधीश को मजिस्ट्रेट द्वारा पुलिस रिपोर्ट के आधार से भिन्न आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए विहित प्रक्रिया के अनुसार मामले का विचारण करना होता है (दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 252 से लेकर 258 तक देखिए)। धारा 252 इस बात की अपेक्षा करती है कि जब अभियुक्त न्यायालय के समक्ष लाया जाता है, तो न्यायालय परिवादी की सुनवाई आरम्भ करेगा और ऐसे सभी साक्ष्य लेगा जो कि अभियोजन के समर्थन में पेश किया जाए। अभियुक्त को परिवादी की और उसके साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार होता है। यदि इस प्रकार पेश किए गए साक्ष्य पर विचार करने पर न्यायालय का निष्कर्ष यह होता है कि अभियुक्त के विरुद्ध कोई भी मामला नहीं बनाया गया है, जो कि यदि उसका परिवाद न किया जाए, तो उसकी दोषसिद्धि को न्यायोचित ठहराएगा, तब न्यायालय अभियुक्त को उन्मोचित कर देगा [दण्ड प्रक्रिया संहिता 1898 की धारा 253 देखिए]। दूसरी ओर यदि न्यायालय की राय यह है कि यह उपधारणा करने के लिए आधार है कि अभियुक्त ने अपराध किया है, जिसका विचारण करने के लिए न्यायालय समक्ष है, तो अभियुक्त के विरुद्ध आरोप लिखित रूप में विरचित किया जाएगा (दण्ड प्रक्रिया संहिता 1898 की धारा 254 देखिए)। अभियुक्त द्वारा उस आरोप के सम्बन्ध में दोषी न होने का अभिवचन करने के बाद आरोप के पूर्व जिन सभी अभियोजन साक्षियों की परीक्षा की गई थी, उन्हें और आगे

1984(2) eILR(PAT) SC 164

प्रति परीक्षा के लिए पुनः बुलाया जाएगा। अभियोजन पक्ष ऐसे अतिरिक्त शाक्षियों की परीक्षा कर सकेगा जिनकी प्रतिपरीक्षा करने का अभियुक्त हकदार होगा। उसके बाद अभियुक्त अपनी प्रतिरक्षा आरम्भ कर सकेगा और अपनी प्रतिरक्षा में साक्षियों की परीक्षा कर सकेगा। प्रक्रिया अभिहित पंक्ति के पुलिस अधिकारी द्वारा जांच करने की अपेक्षा अधिक पर्याप्त रक्षोपाय के लिए उपबंध करती है। और इसी कारण नए या अतिरिक्त रक्षोपाय की खोज करने की बात असंगत है।

33. तथापि इस बात पर जोर दिया गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 के उपबन्धों को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165 और 165 क तथा 1947 वाले अधिनियम की धारा 5 के अधीन दण्डनीय अपराध के सम्बन्ध में किसी कार्यवाही को लागू करते समय धारा 251 क की उपधारा (8) में उपांतरण करना आवश्यक समझा गया जो कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए प्रक्रिया विहित करती है, जबकि उसी अध्याय में अन्तर्विष्ट ऐसे उपबन्धों में से, जिनमें पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए प्रक्रिया विहितकी गई थी, किसी में कोई भी तथ्य सम्बन्धी संशोधन नहीं किया गया था, और यह कि इससे यह दर्शित होगा कि ऐसा प्राइवेट परिवाद जो पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए विहित प्रक्रिया के अनुसार विचारण किए जाने के लिए अपेक्षित होगा, विधानमण्डल की परिकल्पना के भीतर नहीं था। धारा 251 क की उपधारा (8) में किया गया उपांतरण पार्श्विक और न्यूनतम है। यह इस प्रभाव का है कि "तब अभियुक्त से अपेक्षा की जाएगी" शब्दों के स्थान पर 'तब अभियुक्त से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह लिखित रूप में या तो तुरन्त या ऐसे समय के भीतर जैसा मजिस्ट्रेट अनुज्ञात करे, ऐसे व्यक्तियों (यदि कोई हों तो) की सूची जिनकी वह अपने साक्षियों के रूप में परीक्षा करने की प्रस्थापना करता है और ऐसे सभी दस्तावेज़ों (यदि कोई हों) कि जिनका वह अवलम्ब लेने की प्रस्थापना करता है, सूची लिखित रूप में दे, और उससे यह भी अपेक्षा की जाएगी कि वह अपनी प्रतिरक्षा आरंभ करे' शब्द रख दिए जाएंगे। इस बात पर जोर दिया गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 256 में तथ्य सम्बन्धी कोई भी संशोधन नहीं किया गया था और यह कि इस स्पष्ट लोप से स्पष्टतः यह उपदर्शित होगा कि पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर अन्यथा वारंट मामलों के विचारण के लिए विहित प्रक्रिया 1947 वाले अधिनियम के अधीन अपराधों के विचारण के लिए परिकल्पना के भीतर नहीं थी। धारा 251 क, दण्ड प्रक्रिया संहिता

1898 में, सन् 1955 में पुरःस्थापित की गई थी। उसके पूर्व मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मामलों के विचारण के लिए इस बात का ध्यान न रखते हुए समान प्रक्रिया थी कि क्या वह मामला पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित किया गया था। 1955 वाले संशोधन अधिनियम द्वारा (i) दो भिन्न-भिन्न प्रक्रिया पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित मामलों के सम्बन्ध में धारा 251 क के अधीन और (ii) पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित मामलों में धारा 252 से लेकर 258 के अधीन वारंट मामलों के विचारण के लिए दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं विहित की गई थीं। कुछ उपांतरणों सहित, यह प्रभेद दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 में कायम रखा गया। विधानमण्डल ने पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों को लागू प्रक्रिया में कतिपय उपांतरण किए गए थे, किन्तु पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण को लागू होने वाले अन्य उपबन्धों को यथावत् छोड़ दिया था। विधानमण्डल ने अपनी बुद्धि के अनुसार यह आवश्यक समझा होगा कि एक प्रक्रिया में संशोधन किया जाए और दूसरी में न किया जाए। यह भी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि 1955 के पूर्व पुलिस रिपोर्ट के आधार पर और पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण के लिए जो प्रक्रिया थी वह एक ही थी और 1952 वाले अधिनियम ने 1947 वाले अधिनियम के अधीन वाले मामलों का विचारण करने के लिए विशेष न्यायाधीश का न्यायालय स्थापित किया गया था और विचारण वारंट मामलों के विचारण के लिए विहित प्रक्रिया के अनुसार किया जाना था। निश्चित रूप से यह अर्थ निकलता है कि 1952 से लेकर 1955 के बीच विशेष न्यायाधीश का न्यायालय पुलिस रिपोर्ट के आधार पर या पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित मामलों के विचारण के लिए उसी प्रक्रिया का अनुसरण करता। यदि 1955 में, विधानमण्डल ने दो प्रक्रियाएं विहित कीं और पुलिस रिपोर्ट से भिन्न अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामले के विचारण के लिए केवल एक प्रक्रिया को यथावत् बनाए रखा तथा धारा 7 के पुरःस्थापित किए जाने के बाद स्थिति अपरिवर्तित बनी रही तो उससे किसी ऐसे गम्भीर परिणाम होने की बात ध्वनित नहीं होती कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं है। अतः इस अतिरिक्त भाग से इस मामले का पक्षपोषण आगे नहीं होता।

34. विद्वान न्यायाधीशों ने जो कि उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ में थे, अपने अलग-अलग निर्णयों द्वारा अपीलार्थी की इस दलील को यह अभिनिर्धारित करते हुए अस्वीकार कर दिया कि 1947 वाले अधिनियम के अधीन अपराध का संज्ञान करने के प्रयोजन के लिए विशेष न्यायाधीश मजिस्ट्रेट था और वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 में यथा-उपबन्धित संज्ञान कर सकता था। यह निष्कर्ष निकालने में विद्वान न्यायाधीश तमिलनाडु

राज्य बनाम **वी० कृष्णन् स्वामी नायडू और एक अन्य**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय से अधिकांश रूप से प्रभावित थे जिसमें इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि धारा 8 (1) के अधीन कार्य करते वाला विशेष न्यायाधीश दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 के प्रयोजनों के लिए मजिस्ट्रेट है। उन्होंने **पारसनाथ पांडे और एक अन्य** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया जिसमें मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अन्वेषण के आधार पर प्रस्तुत ऐसी रिपोर्ट जो कि त्रुटिपूर्ण पाई जाती है, रिपोर्ट प्रस्तुत करने वाले पुलिस अधिकारी के प्राइवेट परिवाद के आधार पर मानी जा सकती है और यदि ऐसे परिवाद का संज्ञान किया जाता है, तो वह अविधिमान्य नहीं होगा। यह कहा गया कि यह विनिश्चय इस न्यायालय के कुछ विनिश्चयों के प्रतिकूल है। इस पहलू की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि जैसा कि हमने पहले ही बता दिया है, विशेष न्यायाधीश का न्यायालय आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता का न्यायालय होता है और यह आवश्यकता नहीं है कि विनिर्दिष्ट उपबन्ध के सम्बन्ध में ऐसा करने के सिवाय जिसमें कि इस प्रकार उपबन्ध किया गया हो, उसे मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय के रूप में माना जाए। इस संदर्भ में एक दूसरा विनिश्चय भी है जिसके प्रति यहां पर संक्षेप में निर्देश किया जा सकता है। **जगदीश प्रसाद वर्मा** बनाम **राज्य**[3] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि विशेष न्यायाधीश ऐसे तथ्यों के सम्बन्ध में जो कि गठित करते हैं, परिवाद प्राप्त होने पर या पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इत्तिला के आधार पर भी और सन्देह के सम्बन्ध में अपनी इस जानकारी के आधार पर कि अपराध किया गया है, संज्ञान कर सकता है। न्यायालय ने उसे उस रूप में इतनी स्पष्टता के साथ माना था कि निष्कर्ष के समर्थन में कोई भी विवेचन नहीं है। तथापि, हमारा समाधान हो गया है कि इन विनिश्चयों में इस मुद्दे के सम्बन्ध में सही विधि अधिकथित की गई है कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य है।

35. सभी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इस मामले की परीक्षा करने पर हमारा समाधान हो गया है कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश और मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ दोनों ने ही जो यह निष्कर्ष निकाला है कि परिवादी द्वारा फाइल किया गया प्राइवेट परिवादी स्पष्टत: चलने योग्य है और यह कि संज्ञान उचित रूप से किया गया था, वह ठीक है तदनुसार यह अपील असफल होती है और उसे खारिज किया जाता है।

श्री०/ अपील खारिज की गई।

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 718=[1979] 3 एस० सी० आर० 928.

[2] ए० आई० आर० 1962 मुम्बई 105.

[3] ए० आई० आर० 1966 पटना 15.